भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी की 2600 वीं जन्म जयन्ती
के पुनीत अवसर पर निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला की नवीन प्रस्तुति

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचित

सार समुच्चय

भाषा टीकाकर्त्री

आर्यिका श्री 105 सुपार्श्वमती माताजी

निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

सस्करण प्रथम - सन् 2002
I S B N No 81-878280-73
निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला ग्रथांक-4

सार समुच्चय

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचित

पावन आशीष राष्ट्रसत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज

भाषा टीकाकर्त्री आर्यिका श्री 105 सुपार्श्वमती माताजी

सम्पादक उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

सहयोगी
ऐलक श्री 105 विमुक्त सागर जी
क्षुल्लक श्री 105 विशक सागर जी

प्रकाशक
निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

मुद्रक
अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस,
होस्पीटल रोड, आगरा (उ प्र)
✆ 360195, 260938

मूल्य स्वाध्याय (लागत मूल्य 20/-)

शास्त्र प्राप्ति स्थान

- 1 चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ0प्र0)
- 2 श्री दि0 जैन लाल मदिर, चाँदनी चौक, नई दिल्ली
- 3 अ0 भा0 सम्यग्ज्ञान शिक्षण समिति शाखा हटा, दमोह (म0प्र0)
- 4 धर्म जाग्रति सगठन व महावीर सगठन, फिरोजाबाद (उ0प्र0)
- 5 वास्ट जैन फाउन्डेशन, 59/2 बिरहाना रोड, कानपुर (उ0प्र0)

Serial No - 4 ISBN No 81-878280 73

SAR SAMUCHCHYA

of

Acharya Kulbhadra

Edited by

Upadhyaya Muni Nirnaya Sagar

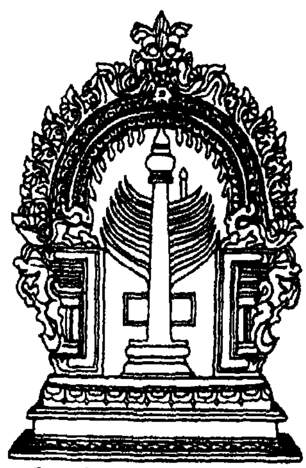
Published by

Nirgranth Granthmala

उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर द्वारा रचित एव सम्पादित ग्रथावली

सुकुमाल चरित्र
चारुदत्त चरित्र
गौतम स्वामी चरित्र
महीपाल चरित्र
जैन व्रत कथा सग्रह
धन्य कुमार चरित्र
सुलोचना चरित्र
सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
जिन दत्त चरित्र
कुरल--काव्य
पुराण सार सग्रह - 1
पुराण सार सग्रह - 2
चेलना चरित्र
रयणसार
आहार दान
जिन श्रमण भारती
धर्म सस्कार भाग-1
सदार्चन सुमन
तनाव से मुक्ति
धम्म रसायण
अराधना कथाकोश-1,2,3
तत्वार्थ सार
योगामृत
सार समुच्चय

महापुराण-1
महापुराण-2
चित्रसेन पद्मावती चरित्र
श्री राम चरित्र
अमरसेण चरिउ
नागकुमार चरित्र
सर्वोदयी नैतिक धर्म
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-1
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-2
करकड चरित्र



निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

यदि यह शास्त्र आपको अच्छा लगे तो आप सभी को पढायें। उत्सव व्रत त्यौहार जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में बॉटने एव छापने योग्य समझें तो लागत मूल्य पर छपवाइये। ट्रस्ट -न्यास- फाउडेशन आदि द्वारा छपवाना चाहते हो तो उनके नाम चित्र परिचय सहित छपवा सकते हैं।

प्रकाशक



सत्यमेव जयते

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004,

President's Secretariat,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-110004

विशेष कार्य अधिकारी
OFFICER ON SPECIAL DUTY

सं · 8 एम.एच/2001　　　　　　　　　　दिनांक 08 जनवरी, 2002

प्रिय श्री जैन जी,

भारत के राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन् जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि भगवान महावीर स्वामी की 2600वीं जयंती के अवसर पर पूर्व दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत व उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित एवं रचित 26 धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है।

राष्ट्रपति जी इन प्रकाशनों की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

सादर,

आपका,

(प्रेम प्रकाश कौशिक)

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन,
मंत्री,
श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर,
एन-10, ग्रीन पार्क एक्स.,
नई दिल्ली-110016

सम्पादकीय

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत जिनागम चार अनुयोगों में विभक्तहै, जिस प्रकार गाय के चारो स्तनो मे दूध समान वर्ण, शक्ति स्वाद, स्पर्श व उपयोगिता से युक्तहोता है उसी प्रकार पुष्प की चार पखुड़ी की तरह ही प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एव द्रव्यानुयोग ये जिनवाणी के चार अनुयोग हैं। जिनबाणी का प्रत्येक शब्द प्राणी मात्र का कल्याण करने मे समर्थ है, यदि हम उस शब्द का सही अर्थ समझने का प्रयास करें तो। जैन दर्शन में सभी कथन सापेक्ष हैं निरपेक्ष कथन तो अकल्याणकारी ही होता है। जिन वचन ही समस्त भव रोगों के लिए परमौषधि के समान है। इन्हीं का (जिन वचनों का) समीचीन आश्रय/अवलम्बन भव्य जीवों को भव वारिधि से तारने के लिए समुचित व समर्थ नौका के समान है। जिन वचनों की महिमा के बारे में आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी कहते हैं-

जिण वयण मोसह मिण, विसय सुह विरेयण अमिद भूय।
जर मरण वाहि हरण, खय करण सव्व दुक्खाण ॥17॥द पा

जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी यह औषधि विषय सुखो का विरेचन करने वाली तथा अमृतभूत है। जन्म, जरा, मृत्यु रूपी रोगो की परिहारक एव सर्व दुखो का क्षय करने वाली है। उस परमौषधि का सेवन हमें अपनी पात्रता के अनुसार करना है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोगी की वय, रोग, शक्ति प्रकृति, मौसम का प्रभाव देखकर, औषधि की मात्रा, सेवन की विधि व पथ्यापथ्य की बातों का समीचीन विचार करके ही रोगी को औषधि का सेवन कराता है, उसी प्रकार परम पूज्य श्री दिगम्बर जैनाचार्य रूपी कुशल वैद्यो के निर्देशानुसार हम सभी को भी क्रमश जिनागम का स्वाध्याय करना है तभी हम जन्म, जरा, मृत्यु जैसे रोगों से मुक्तिप्राप्त कर सकते हैं। यदि हमने कुशल वैद्य के निर्देशों व सुझावों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिता पूर्वक (मनमाने ढग से) औषधि का सेवन किया तो हो सकता है रोग नष्ट होने की बजाय बढ भी सकता है। तथा साथ में अन्य भी कई रोग पैदा हो सकते हैं अत जिनागम (जिनेन्द्र भगवान या आप्त प्रणीत, गणधर भगवन्तों द्वारा सग्रहीत एव दिगम्बर मुनियों द्वारा लिपिबद्ध शास्त्रों को ही जिनागम कहते हैं) का प्रत्येक अक्षर, शब्द, पद, वाक्य श्रद्धान के योग्य हैं। जिनवाणी का कोई भी अश/अग उपेक्षणीय नहीं है। आचार्य भगवन् श्री शिव कोटि महाराज कहते हैं -

पद मक्खर च एक्कपि जो ण रोचेदि सु णिदिट्ठ।
सेस रोचतो वि हू मिच्छा दिट्ठी मुणेयव्वा ॥ (मूलाराधना)

जो जिनागम में प्रणीत एक भी अक्षर, शब्द, वाक्य या गाथा की श्रद्धा न करे और समस्त आगम को माने या उस पर श्रद्धा करे तो भी वह मिथ्या दृष्टि है अत कोई भी अनुयोग कभी अकल्याणकारी नहीं होता अपनी पात्रता के अनुसार सभी का स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रथमानुयोग के ग्रथों में त्रेसठ शलाका के महापुरुषों का जीवन चरित्र दर्शाया गया है "उन्होंने जीवन में जो शुभाशुभ क्रियायें की, पुण्य पाप का बध किया उसका क्या फल प्राप्त हुआ" का वर्णन है। एव कर्म सिद्धान्त को प्रत्यक्ष दूरदर्शन (चलचित्र) पर चल रहे चित्रों की तरह दिखाया गया है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों का प्रारम्भिक दशा में (स्वाध्याय के क्रम में) स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। इस अनुयोग का स्वाध्याय करने से पापों से भीति, जिनेन्द्र भगवान में प्रीति, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म में अनुराग व रुचि, सयम प्राप्ति की प्रबल भावना, ससार शरीर भोगों से उदासीनता/विरक्ति रत्नत्रय में अनुरक्तिकी भावना जागृत होती हैं। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी कहते हैं –

प्रथमानुयोग मर्थाख्यान चरित पुराण मपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधान बोधति बोध समीचीन ॥43॥ र श्रा

प्रथमानुयोग पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है। पुराण/पौराणिक पुरुषों के पुण्य चरित्र का कथन करता है यह बोधि (रत्नत्रय – सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र) एव समाधि– निर्विकल्प ध्यान की अवस्था (जो अभेद रत्नत्रय के प्राप्त होने पर शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा में लीन होने पर प्राप्त होती है जिसे आत्मानुभूति भी कहते हैं इसका प्रारभ सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से होता है इसके पूर्व शुद्ध आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति कदापि सभव नहीं है। अर्थात् असम्भव है) का खजाना हैं ऐसे समीचीन बोध को देने वाला प्रथमानुयोग/कथानक है अपितु उनमें श्रावक धर्म व मुनि धर्म का कथन करने वाला चरणानुयोग भी उपलब्ध होता है। गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, दस प्रकार के करणो एव त्रिलोक सबधी कथन होने से करणानुयोग, जीव की स्थिति तथा जीवादि द्रव्यों के स्वभाव, शुद्ध गुण, पर्याय का कथन भी प्रथमानुयोग में मिलने से द्रव्यानुयोग भी दृष्टिगोचर होता है। प्रथमानुयोग मे भी सक्षेप रूप से चारों अनुयोगों का कथन मिल जाता है ऐसा कहना भी कोई अतिशयोक्तिनहीं है।

स्वाध्याय से विमुख या एकान्तवाद की पक में लिप्त जो अज्ञ महानुभाव प्रथमानुयोग को कथा कहानी कहकर उसकी उपेक्षा करते ही हैं वे अपने जीवन के साथ खिलवाड़ तो करते हैं साथ ही जिनागम की अवहेलना कर अन्य भव्य जीवों के पतन में भी कारणरूप से सहभागी हो जाते हैं।

अत मन्द कषायी, भद्र परिणामी, प्रशम, सवेग भावयुक्तउन समस्त स्वाध्याय प्रेमी, सत् श्रद्धालु धर्मस्नेही, आत्महितेच्छुक, पाप भीरु महानुभावों के लिए विनम्र सुझाव/निर्देश है कि वे जिनेन्द्र भगवान की वाणी का अपलाप करके पाप के भागीदार न बनें, अपितु समीचीन शास्त्रों का समीचीन विधि से स्वाध्याय करके स्वपर के कल्याण में सहयोगी बनें। सम्यक्ज्ञान रूपी नेत्र के बिना जीव कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता है अत यथाशक्तिनित्य विनय पूर्वक विशुद्ध भावों से स्वाध्याय करने का समीचीन प्रयास करें।

इस ग्रथ के पुन प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक भव्य जीव स्वाध्याय के लिए प्रेरित हों। वर्तमान मे स्वाध्याय की परम्परा मद होती चली जा रही है क्योंकि जो स्वाध्याय करना चाहते हैं वे (प्रारम्भिक स्वाध्यायार्थी) बड़े-ग्रथों को देखकर ही अपना साहस खो बैठते हैं। तथा प्रथमानुयोग के ग्रथ सर्वत्र सहज सुलभ भी नहीं हो पा रहे हैं अधिकाशत एकान्तवाद से दूषित साहित्य दृष्टिगोचर हो रहा है जिससे प्राणी मिथ्यात्व रूपी अधकार में भटकते हुए भव भ्रमण की वृद्धि ही कर रहे हैं अत प्रथमानुयोग के लघु शास्त्रों का प्रकाशन इस युग की आवश्यकता की पूर्ति में सहयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रथ के सम्पादन मे मुझ अल्पज्ञ साधक के द्वारा जो त्रुटि रह गई हों तो सकल सयमी विज्ञजन मुझे क्षमा करते हुए भूल सुधारने हेतु सकेत देने का कष्ट करें, इसमे जो त्रुटि हैं वे सब मेरी अल्पज्ञता की द्योतक हैं, तथा जो भी अच्छाई हैं वे सब परम पूज्य आचार्य भगवन्तों का सुप्रसाद ही हैं। अत गुणग्राही बन कर गुण ग्रहण करें।

''अलमति विस्तरेण''

कश्चिदल्पज्ञ श्रमण
जिन चरण चञ्चरीक
टूडला (3 12 2000)

भगवान महावीर स्वामी और उनके सिद्धान्त

भगवान महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवे/अतिम तीर्थंकर थे, किंतु जैन ऐतहासिक परम्परानुसार वे जैन धर्म के न तो आदि प्रवर्तक थे और न ही सदा के लिए अंतिम तीर्थंकर। जैन धर्म की स्थापना किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से नहीं हुई क्योंकि यह जैन धर्म 'वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहता है'। ससार में विद्यमान समस्त पदार्थ अनादि निधन हैं यह सृष्टि भी अनादि-निधन है अत पदार्थों का कभी अभाव नहीं होता। यथा जल का स्वभाव शीतलता व अग्नि का स्वभाव उष्णता है। ये स्वभाव अनादि-निधन हैं। इन्द्रिय व कर्म विजेता जिनधर्म प्रवर्तक जिनेन्द्र भगवान व तीर्थंकर अनादि काल से होते आ रहे हैं और अनत काल तक होते रहेंगे। तीर्थंकर महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट धर्म मे अपने अपने युग के अनुसार विशेषताएँ भी रहती हैं और उनके मौलिक स्वरूप मे तालमेल भी बना रहता है।

वर्तमान युग मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए, जिनका वर्णन न केवल जैन पुराणों मे अनिवार्यत आता है, अपितु भारत के प्राचीन ग्रथों ऋग्वेद आदि में भी बाहुल्यत मिलता है। यथा-ऋग्वेद के 10 वे पर्व की 102 व 10 वीं ऋचा मे, इसी पर्व की 136, 166, 233 ऋचाओ मे, इसके अतिरिक्त भाग 0 पुराण 5, 6 मे व विष्णु पुराण के 3, 18 मे भी वृषभनाथ के केशी, वातरसना, ऋषभनाथ आदि नाम ध्यान देने योग्य है।

उन वृषभदेव से लेकर महावीर भगवान पर्यंत 24 तीर्थंकरों के चरित्र का विधिवत् वर्णन जैन पुराणो मे है।

धार्मिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, आगमिक दृष्टियो से उनमे एक रूपता तथा एक आत्मा की व्याप्ति प्रकट करने के लिए महावीर स्वामी के पूर्व जन्म की परम्परा भगवान वृषभदेव से जुड़ी हुई है।

पुरुरवा भील से मारीचि तक

पुरुरवा भील जिसने जगल मे शिकार करते समय 'सागरसेन' मुनिराज के दर्शन करने मात्र से कौए के मास का त्याग किया था। इस नियम का उसने विषम परिस्थितियो में भी पालन किया। वही पुरुरवा भील मृत्यु के उपरात सौधर्म स्वर्ग मे देव हुआ। वहा से प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती (जिसके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा) का पुत्र मारीचि कुमार हुआ। 'भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा' यह कथन वैदिक पुराणो मे भी एक मत से स्वीकार किया गया है यथा-

भागवत पुराण	5, 4, 9, 11, 2
विष्णु पुराण	2, 1, 31,
• वायु पुराण	33,52
अग्नि पुराण	107,11,12
ब्रह्माण्ड पुराण	14,5,62

लिग पुराण	1,47,23
स्कन्द कुमार खण्ड	37,57
मार्कण्डय पुराण	50, 41

इत्यादि पुराणो आदि मे उपरोक्त कथन का स्पष्टत उल्लेख है।

मारीचि से सिह पर्याय तक

मारीचि ने वृषभदेव के चरणो मे जिनदीक्षा अगीकार कर ली, किंतु वह आदि तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट कठोर मुनिव्रतो का पालन नहीं कर सका अत वह मुनि पद से भ्रष्ट हो गया मात्र अल्प काल ही मुनि रहा। इस पद से भ्रष्ट होने के बावजूद भी उसमे धर्म का बीजारोपण तो हो ही चुका था अतएव वह परिव्राजक साधु बन गया। भगवान वृषभदेव से अपने बारे मे 'यह तीर्थंकर होगा' यह सुनकर अहकार से जिनमत को छोड़कर 363 मिथ्यामतो की स्थापना करने वाला हुआ। दुर्धर कुतप करने से एव अज्ञानतापूर्वक चारित्र का परिपालन करने से वह देव हुआ। पुन अनेक बार देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी पर्याय मे मारीचि ने भ्रमण किया। असख्यात् भवो को धारण कर कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल तक उसने परिभ्रमण किया।

अन्यत्र यह लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग से आकर अग्निसह ब्राह्मण हुआ। पुन स्वर्ग गया। वहा से च्युत होकर अग्निमित्र परिव्राजक बना। पश्चात् माहेन्द्र स्वर्ग गया वहा से च्युत हो भारद्वाज ब्राह्मण हुआ। पुन परिव्राजक बन कर माहेन्द्र स्वर्ग गया वहा से निकलकर उसने तिर्यञ्च गति मे व अधोगति मे परिभ्रमण किया पुन मारीचि का जीव सागरोपम काल के लिये इतर निगोद गया इसके अनन्तर उसने इन भवो को धारण किया-

1000 (एक हजार)	आक के वृक्ष के भव
80,000 (अस्सी हजार)	सीप के भव
20,000 (बीस हजार)	नीम के भव
90,000 (नब्बे हजार)	केलि के भव
3,000 (तीन हजार)	चन्दन के भव
5,00,00,000 (पाच करोड़)	कनेर के भव
60,000 (साठ हजार)	वेश्या के भव
5,00,00,000 (पाच करोड़)	शिकारी के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	हाथी के भव
60,00,00,000 (साठ करोड़)	गधा के भव
30,00,00,000 (तीस करोड़)	श्वान के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	नारी के भव
8,00,00,000 (आठ करोड़)	घोड़ा के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	बिल्ली के भव

80,00,000 (अस्सी लाख)	देव पद के भव
60,00,000 (साठ लाख)	नपुसक के भव
90,00,000 (नब्बे लाख)	धोबी के भव
60,00,000 (साठ लाख)	अकाल मरण,गर्भपात के भव
50,000 (पचास हजार)	राजा के भव

अनेक भव सुपात्र को दान देने से भोगभूमि के व कुपात्र को दान देने से कुभोग भूमि के प्राप्त किये।

तदनन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के मगध देश के राजगृह नगर मे वेद पारगत शाडिल्य ब्राह्मण की पाराशरी ब्राह्मणी से 'स्थावर' नामक पुत्र हुआ। पुन वेद पारगत होकर परिव्राजक बन माहेन्द्र स्वर्ग मे सात सागर की आयु का धारक देव हुआ। वहा से चयकर इसी राजगृह नगर में विश्वभूति नामक राजा की जैनी नामक रानी से विश्वनदी नामक पुत्र हुआ। इसी विश्वभूति राजा का भाई विशाखभूति था। एक दिन अपने विश्वभूति राजा विरक्त हो अपने छोटे भाई को राज्य पद व अपने पुत्र को युवराज पद देकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कठिन तप करने लगा।

किसी दिन विश्वनदी युवराज के मनोहर नामक बगीचे को देखकर चाचा के पुत्र विशाखनदी ने अपने पिता से उसकी याचना की। विशाखभूति राजा ने भी मायाचारी से विश्वनदी को शत्रुओ पर आक्रमण के लिए भेजकर वह उद्यान अपने पुत्र के लिए दे दिया। विश्वनदी को इस बात का पता लगाते ही उसने वापिस आकर विशाखनन्दी को पराजित कर दिया और उसको भयभीत देख विरक्त होकर उसको उद्यान सौप कर आप स्वय दैगम्बरी दीक्षा लेकर तप करने लगा।

घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृश शरीरधारी विश्वनदी मुनिराज एक दिन मथुरा नगरी मे आहार के लिए आये। व्यसनो से भ्रष्ट यह विशाखनन्दी उस समय किसी राजा का दूत बनकर वहा आया हुआ था और एक वेश्या के भवन की छत पर बैठा मुनि को देख रहा था। दैवयोग से वहा एक गाय ने मुनिराज को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हे गिरता देख क्रोधित हुआ विशाखनदी बोला कि 'तुम्हारा पराक्रम हमे मारने को पत्थर का खम्भा तोड़ते समय देखा गया था वह आज कहा गया? इस प्रकार खोटे वाक्यो को सुनकर मुनिराज के मन मे भी क्रोध आ गया और बोले कि इस हसी का फल तुझे अवश्य मिलेगा। और अत मे निदान सहित सन्यास से मरण कर मुनिराज महाशुक्र स्वर्ग मे देव हुए और विशाखभूति राजा (चाचा) का जीव भी वहा पर तप पूर्वक मरण करके देव हुआ। चिरकाल तक सुख भोगकर वे दोनो वहा से च्युत होकर सुरम्य देश के पौदनपुर नगर मे प्रजापति महाराज की जयावती रानी से विशाखभूति का जीव 'विजय' नामक बलभद्र पदवी धारक पुत्र हुआ और उन्हीं की दूसरी मृगावती रानी से विश्वनदी का जीव नारायण पद धारक त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ एव विशाखनदी का जीव चिरकाल तक ससार मे परिभ्रमण कर विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के उलकापुर नगर मे मयूरग्रीव विद्याधर की नीलाञ्जना रानी

से अश्वग्रीव का नाम प्रतिनारायण पद का धारक पुत्र हुआ। पूर्व जन्म के सस्कार से त्रिपृष्ठ नारायण ने अश्वग्रीव प्रतिनारायण को मारकर चक्र रत्न प्राप्त किया। चिरकाल तक राज्य सुख को भोगकर अत में भोगासक्ति से मरकर सातवे नरक को प्राप्त किया। वहा के दुखो को सागरो पर्यंत सहकर उसी भरत क्षेत्र की गंगा नदी के तट के समीपवर्ती वन मे सिहगिरि पर्वत पर सिह हुआ, वहा भी तीव्र पाप से पुन प्रथम नरक को प्राप्त किया। वहा एक सागर तक दुख भोग कर जम्बूद्वीप मे सिहकूट की पूर्व दिशा मे हिमवन पर्वत के शिखर पर सिह हो गया।

<u>सिह का उत्थान</u>

किसी समय यह सिह किसी हरिण को पकड़ कर खा रहा था। उसी समय अतिशय दयालु 'अजितजय' नामक चारण मुनि अमितगुण नामक चारणमुनि के साथ आकाश मे जा रहे थे। उन्होने उस सिह को देखा, देखते ही वे तीर्थंकर के वचनो का स्मरण कर दयावश आकाशमार्ग से उतरकर उस सिह के पास पहुचे और शिलातल पर बैठकर उच्च स्वर से सम्बोधन कर धर्ममय वचन कहने लगे। उन्होने कहा कि हे मृगराज! तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायण के भव मे इन्द्रियो मे आसक्त होकर मरकर नरक पर्याय प्राप्त की। वहा के दुख भोगकर वहा से निकलकर सिह पर्याय पाकर क्रूरकर्मी होकर पुन नरक गया अब वहा से निकलकर पुनरपि सिह पर्याय को प्राप्त हुआ है। अरे मृगराज !

अब इस भव से तू दशवे भव मे अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैने श्रीधर तीर्थंकर के मुख से सुना है। हे बुद्धिमान! अब तू आज से ससार रूपी अटवी मे गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरत हो और आत्मा का हित करने वाले मार्ग मे रमण कर।

इस प्रकार उस सिह ने मुनिराज के वचन हृदय मे धारण किये तथा उन दोनो मुनिराजो की भक्ति के भार से नम्र होकर बार-बार प्रदक्षिणाए दीं बार-बार प्रणाम किया। शुभ निमित्त के मिल जाने से शीघ्र ही तत्व श्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

इस प्रकार सयमासयम के व्रतो का पालन करते हुए सिह अन्त मे सन्यास धारण करके एकाग्रचित्त से मरा अत मे सौधर्म स्वर्ग मे सिहकेतु नामक देव हुआ। वहा दो सागर तक सुखो को भोग कर वहा से च्युत होकर धातकीखड के पूर्व विदेह की मगलावती देश के विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के कनकमाला नगर के राजा कनकपुख विद्याधर और कनकमाला रानी के गर्भ से कनकोज्ज्वल नामक पुत्र हुआ। किसी समय मदर पर्वत पर 'प्रियमित्र' मुनिराज से दीक्षा लेकर अत में समाधि से मरणकर सातवे स्वर्ग मे देव हुआ। वहा से च्युत होकर इसी अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की शीलवती रानी से हरिषेण नामका पुत्र हुआ। पुन राज्य भार को छोड़कर श्रुतसागर मुनि से दीक्षा लेकर आयु के अत मे महाशुक्र स्वर्ग मे देव हुआ। वहां से च्युत होकर धातकीखड के पूर्व विदेह की पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा रानी से प्रियमित्र पुत्र हुआ। इस प्रियमित्र ने चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त किया था।

अनन्तर क्षेमकर तीर्थंकर से दीक्षा लेकर आयु के अत मे सहस्रार स्वर्ग मे देव सुख का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर मे नन्दिवर्धन महाराजा की वीरवती महारानी से नन्द नामक पुत्र हुआ। यहा पर भी अभिलक्षित राज्य सुख को भोग कर प्रोष्ठिल नाम के गुरु के पास दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण करते हुए ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का चितवन कर तीर्थंकर नमकर्म का बध किया। आयु के अत मे सब प्रकार की आराधनाओ को प्राप्त कर अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान मे श्रेष्ठ इन्द्र हुआ।

जब इस इन्द्र की आयु 6 महीने शेष थी तब इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आगन मे इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की गयी प्रतिदिन साढ़े दश करोड़ या चौदह करोड़ रत्नो की मोटी धारा बरसने लगी।

श्री शुभमिती आषाढ शुक्ला षष्ठी, शुक्रवार 17 जून ईसवी सन् से 599 वर्ष पूर्व की रात्रि के पिछले प्रहर मे सिद्धार्थ महाराज की रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे एव प्रभात मे अपने पतिदेव से उन स्वप्नो का फल सुनकर सन्तोष प्राप्त किया। अनन्तर देवो ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हुए माता-पिता की विधिवत् पूजा की। अर्थात् माता त्रिशला के गर्भ मे अच्युतेन्द्र का जीव आ गया।

जन्म कल्याणक

नव मास व्यतीत होने पर चैत्र सुदी 13 सोमवार 27 मार्च ईसवी सन् से 598 वर्ष पूर्व माँ त्रिशला ने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया। उनके जन्म से तीनो लोको मे क्षण भर के लिए शांति की लहर छा गई। उनके जन्म से सर्वत्र सुख शाति, धर्म, लक्ष्मी, यश आदि की वृद्धि हुई थी। इसलिये उनका नाम वर्धमान रखा गया। सौधर्म इन्द्र ने मेरु पर्वत की पाडुक शिला पर असख्यात देव समूह के साथ उन भगवान बालक का अभिषेक किया।

सजयत व विजयत नामक मुनिराजो का सशय उनको देखने मात्र से दूर हो गयाथा। अत उन्होने उनको 'सन्मति' कहकर सम्बोधित किया। बाल्यावस्था मे ही सगम देव द्वारा ली गई परीक्षा मे वे सफल हुए। सगम देव इनकी शक्ति व निर्भयता देखकर दग रह गया, उसने नम्रीभूत होकर उनकी 'महावीर' नाम से स्तुति की।

भगवान महावीर पाचवे बालयति तीर्थंकर थे। इनके पूर्व वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ भी बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर थे। इन्होंने स्वेच्छा से शादी नहीं रचायी। सकल विषय वासनाओ को जीतकर तीस वर्ष की वय मे इन्होने मगसिर वदी 10 सोमवार 20 दिसम्बर सन् ईसवी सन् से 569 वर्ष पूर्व मे दिगम्बर जिन दीक्षा ग्रहण की।

बारस वर्ष की कठोरतम मौन व्रत एव सयम साधना व आत्म ध्यान के फल स्वरूप जृम्भिका ग्राम के समीप, ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन मे भगवान महावीर स्वामी को वैशाख सुदी 10 रविवार 26 अप्रैल ईसवी सन् से 537 वर्ष पूर्व को चार घातिया कर्मों को

क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त किया। योग्य श्रोता/ गणधर के अभाव मे भगवान की दिव्यध्वनि 66 दिन तक नहीं खिरी। अर्थात् धर्मोपदेश नहीं हुआ। महावीर स्वामी का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा 1, वीर शासन जयती 1-1-1 को अथवा ईसवी सन् से 557 वर्ष पूर्व प्रारभ हुआ था।

30 वर्ष तक भगवान महावीर स्वामी ने केवली अवस्था मे अनेको देशो मे विहार कर धर्म का उपदेश भव्य जीवो को दिया। उनके समवशरण मे असख्यात देव देविया, लाखो मनुष्यो/श्रावको व लाखो श्राविकाए, हजारो दिगम्बर मुनि व हजारो साध्वीया/आर्यिका माताए थीं। प्राणी मात्र को कल्याण का उपदेश देने वाले भगवान महावीर स्वामी ने लगभग 72 वर्ष की उम्र मे शेष चार अघातिया कर्मो को भी क्षय करके कार्तिक वदी 14 की रात्रि के अंतिम पहर या कार्तिक वदी अमावस्या के प्रात काल मगलवार 15 अक्टूबर ईसवी सन् से 527 वर्ष पूर्व को मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित/प्रचारित सिद्धान्तो को मुख्य रूप से दो भागो मे बाटा जा सकता है। प्रथम ज्ञेय सिद्धान्त, द्वितीय आचरणीय सिद्धान्त।

I ज्ञेय सिद्धान्त

अर्थात् जानने योग्य सिद्धान्त। वस्तु तत्व को यथार्थ रूप से समझने के लिए जिनमत के रहस्य मयी सूत्रो को आत्मसात करने के लिए, आत्मा को परमात्मा बनाने की कला सीखने के लिए, विश्व के प्रत्येक प्राणी की मनोभावना व वाच्य सिद्धातो को समझने के लिए भगवान महावीर स्वामी के ज्ञेय सिद्धान्तो को जानना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। उन ज्ञेय सिद्धान्तो को मुख्य रूप से दो भागो मे बाटा जा सकता है-प्रथम अनेकान्तात्मक सिद्धान्त या अनेकान्तवाद, द्वितीय स्याद्वाद।

1 अनेकान्तवाद

प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त धर्म विद्यमान है या प्रत्येक द्रव्य मे अनेक गुण, स्वभाव या लक्षण पाये जाते है। अनेकान्त का शब्दिक अर्थ है-अनेक है अत जिसके, अर्थात् जिसमे अनन्त धर्म हैं। अनेकान्तात्मक दृष्टि से वस्तु तत्व को जानने वाला वाद ही अनेकान्त वाद है। यथा-राम एक होते हुए भी अनन्त धर्मा हैं, उनमे पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, पतित्व, पोत्रत्व, प्रपौत्रत्व, पितामहत्व, प्रपितामहत्व, मानवता, जीवन्त, भव्यत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेदत्व, अभेदत्व इत्यादि धर्म है। इन परस्पर विरोधी सर्व धर्मों को बिना विरोध के जो ग्रहण करता है वही अनेकान्त वाद है।

2 स्याद्वाद

श्री महावीर प्रभु का वस्तु तत्व को जानने वाला दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है-स्याद्वाद। यह शब्द दो शब्दो के मेल से बना है-पहला शब्द है-स्याद व दूसरा शब्द है-वाद। इनमे 'स्याद' का

अर्थ कथञ्चित् है तथा 'वाद' शब्द का अर्थ कथन, वचन, वक्तव्य है। स्याद्वाद का अर्थ हुआ कि कथञ्चित् किसी बात को स्वीकार करना। द्रव्य में विद्यमान अनत धर्मों का कथन एक साथ सभव नहीं है तथा वे धर्म परस्पर विरोधी भी हो सकते है। इन विरोधी धर्मों को भी जो कथंचित् (किसी अपेक्षा से यह भी सत्य है) सत्य कहता है वही है स्याद्वाद। स्याद्वाद समस्त विवादो को मिटाने व वस्तु तत्व का यथार्थ बोध कराने वाला अनुपम हेतु है।

II भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित आचरणीय सिद्धान्त-

आचरण ही किसी धर्म की अतर्चेतना हो सकती है, बिना आचरण के धर्म मुर्दा शरीर के बराबर है मुख्य रूप से भगवान महावीर स्वामी द्वारा उद्घोषित पाच सिद्धान्त सूत्र हैं। इनमे भी आत्म कल्याण व शाति का रहस्य छिपा हुआ है।

1. अहिंसा व्रत

मन, वचन, काय से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुचाना, न कष्ट देने हेतु किसी को प्रेरित करना, किसी हिंसा करने वाले की अनुमोदना न करना अहिंसा का स्थूल स्वरूप है। यथार्थता मे तो किसी जीव के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी भी पर पदार्थ के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी पदार्थ के प्रति राग द्वेष का नहीं होना, अपनी आत्मा में लीन रहना ही परम अहिंसा है। इस अंहिसा की ही पूर्णता के लिए शेष चार सिद्धान्त रक्षा कवच की तरह है। यह अहिसा ही जगज्जननी है, प्राणी मात्र का प्राणो से प्रिय धर्म है, यह आत्म-स्वभाव है, लक्षण है, धर्म है ,नियति है, चरम साध्य लक्ष्य है।

2 सत्य व्रत

मन, वचन, काय से सम्पूर्ण असत्य का त्याग करना, न वचन से असत्य बोलना, न शरीर से असद् चेष्टा करना और न ही मन मे असद् विचार करना। असत्य के लिए प्रेरित करना तथा असत्यवादी असत्यार्थी असत्यासक्त की प्रशसा नहीं करना, उसकी क्रिया की अनुमोदना नहीं करना, उसकी चेष्टाओ से सहमत नहीं होना ही सत्य व्रत है। पर भावो का सर्वथा त्याग कर निजात्मा मे लीनता ही निश्चय से सत्य व्रत है।

3 अचौर्य व्रत

किसी की भूली हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई, वस्तु को उस स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना या ग्रहण करने का भाव करना भी चोरी है, यह चोरी का स्थूल लक्षण है। सूक्ष्म रूप से, दूसरे के विचार, आशय, ज्ञान, यश, सुख, शांति छीनता भी चोरी है। जिस वस्तु का अधिकारी किसी और को होना चाहिए यदि आप उसके अधिकारी अवैध रूप से बन गये है तो वह भी चोरी है। निश्चयापेक्षा से तो पर पदार्थों का ग्रहण, आत्मा लीनता का अभाव चोरी है। स्वात्म लीनता ही निश्चय से अचौर्य व्रत है।

4 ब्रह्मचर्य व्रत

अपनी ब्रह्म स्वरूप आत्मा मे लीन होना, किसी भी स्त्री के साथ काम सेवन, या इन्द्रिय विषय मे प्रवृत्ति नहीं करना ही ब्रह्मचर्य व्रत है। यह व्यवहार ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। स्त्री मात्र के साथ मैथुन का मन, वचन, काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है।

5 अपरिग्रह व्रत

चेतन व अचेतन के भेद से परिग्रह के दो भेद है। इसके भी अतरग व बहिरग के भेद से दो भेद है। उनके क्रमश 14 व 10 भेद है। समस्त परिग्रह का मन वचन, काय से त्याग करना अपरिग्रह व्रत है। मन, वचन, काय से, कृत कारित अनुमोदना से समस्त वाह्य पदार्थों का त्याग करना, अपनी आत्मा में ही लीन हो जाना निश्चय से अपरिग्रह व्रत है। व्यवहार अपेक्षा से सकल वाह्य परिग्रह का, यथा शक्य अतरग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह व्रत है।

इन पाचो व्रतो का पालन श्रावक एक देश करता है क्योकि वह गृहस्थ है, उसके व्रत देश व्रत या अणुव्रत कहे जाते है तथा साधक को इन व्रतो का सकल देश या सम्पूर्णतया पालन करना चाहिए इन व्रतो के बिना आत्म-कल्याण असभव ही है। इन पाच व्रतो का पालन करने से हजारो नियमो व सविधान के पालन की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं मे सभी नियम, कानून, विधान व संविधान का पालन हो जाता है।

★★★★★★

तीर्थंकर भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी का

जीवन परिचय

नाम	श्री महावीर स्वामी
माता का नाम	प्रियकारिणी/त्रिशला
पिता का नाम	श्री सिद्धार्थ
चिन्ह	सिह
आयु	72 वर्ष
अवगाहना	7 हाथ
गर्भ तिथि	आषाढ़ शु 6
जन्म तिथि	चैत्र शु 13
दीक्षा तिथि	मार्ग कृष्ण 10
केवलज्ञान तिथि	वै शु 10
निर्वाण तिथि	कार्तिक कृ. 15
यक्ष	गुह्हयक
यक्षिणी	सिद्धायिनी
वैराग्य का कारण	जातिस्मरण
दीक्षा वन	नाथ
दीक्षा वृक्ष	साल
सहदीक्षित	एकाकी
छदमस्थ काल	12 वर्ष
कुल गणधर	11
मुख्य गणधर	इन्द्रभूति
मुख्य श्रोता	श्रेणिक
मुख्य आर्यिका	चन्दना
प्रथम आहार दाता	चन्दना
सर्व ऋषि	14000
सर्व आर्यिका	36000/35000
श्रावक	1,00,000
श्राविका	3,00,000
केवली काल	30 वर्ष
तीर्थकाल	21042 वर्ष
वश :	नाथ
देवगति से पूर्व भव का नाम	नन्द/सुनन्द/नन्दन

पुरोवाक्............

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

जिस प्रकार फलों का सार रस होता है, पुष्पों का सार पराग होता है, शक्कर का सार उसकी मिठास है। दूध का सार घी होता है अथवा अग्नि का महत्व ऊष्णता से है, जल का महत्व शीतलता से है, चेहरे का महत्व नेत्रों से है, नेत्रों का महत्व ज्योति से है। दीपक का महत्व प्रकाश से है, उसी प्रकार मानव जीवन का महत्व सदाचार से है। चारों गतियों में मनुष्य गति ही महत्वपूर्ण गति है। इस मनुष्य पर्याय का सार ज्ञान और उस ज्ञान की सार्थकता सम्यक्त्व से है।

सम्यक्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का सार है सम्यक् वैराग्य, वैराग्य का सार है सयम/चारित्र/सदाचार।

सयम का भी सार है तप, तप का सार है ध्यान। ध्यान की सार्थकता सवर व निर्जरा से है। सवर व निर्जरा भी वही महत्वपूर्ण है जो मोक्षमार्ग में नियामक हेतु हो।

प्रस्तुत ग्रथ *"सार समुच्चय"* यथा नाम तथा गुण का धारक है। इस ग्रथ में आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामी जी ने तीस विषयों के माध्यम से जीवन की समीचीन समस्त/सारभूत अवस्थाओं/उपलब्धियों का प्रतिपादन किया है। प्रथमत ही मगलाचरण करके अपने इष्ट देवता को नमस्कार करते हुए नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का पालन, सातिशय पुण्य की प्राप्ति एव अपने कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने की भावना भाई है।

इसके उपरान्त जीवनोपयोगी महत्वपूर्ण सूत्रों को लिपि बद्ध किया है। यथा–आत्मा का कल्याण किस कार्य के करने में है ? आत्मा का हित क्यों करना चाहिए ? आत्मा का हित किससे होता है ? विषय-कषायों का स्वरूप क्या है ? मिथ्यात्व के घातक प्रभाव क्या हैं ? सम्यक्त्व का स्वरूप क्या है ? सम्यक्त्व के लक्षण क्या-क्या हैं ? धर्म की आवश्यकता क्यों है ? धर्म जो कि आत्मा का स्वभाव है उसको प्राप्त करने के साधन क्या हैं ? इन्द्रियों के भोग, काम वासना की असारता का अनुभव कब, किसे और कैसे होता है ? स्त्रियों का स्वरूप क्या है ? उनके गुण दोष क्या-क्या हैं ?

चारों गतियों का स्वरूप क्या है ? उन गतियों में कौन-कौन से दु ख व सुख प्राप्त होते हैं ? वैराग्य की क्या आवश्यकता है ? मोक्ष व मोक्ष मार्ग का स्वरूप क्या है ? ममत्व भाव, मूर्च्छाभाव व परिग्रह के कौन-कौन से दुष्परिणाम

होते हैं ? धन की असारता व सतोष की महिमा क्या है ? आर्तध्यान व रौद्र ध्यान का स्वरूप क्या है ? इन दुर्ध्यानों से बचने के उपाय क्या हैं ? धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान की पात्रता क्या है ? अशुभ ध्यान व शुभ ध्यानों का फल क्या है ? सत्सगति का प्रभाव क्या है ? काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि आत्मा का घात किस प्रकार करते हैं ? इनका स्वरूप क्या है ? रत्नत्रय की प्राप्ति किस प्रकार सभव है, मनुष्य जन्म की सार्थकता किस कार्य के करने से है ? स्वाभाविक स्वाधीन एव शाश्वत सुख प्राप्त करने का उपाय क्या है ? इत्यादि जटिलतम शकाओं का सरल एव सुबोध शब्दों में समाधान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रथ सदाचार की शुभ प्रेरणा देने वाला एक अनुपम ग्रथ है। इस ग्रथ का प्रत्येक सुभाषित श्लोक रत्नों के सार के समान जीवनोपयोगी है। मोक्षाभिलाषी साधकों के लिये प्रत्येक श्लोक कठस्थ व हृदयस्थ करने योग्य है।

सवेगी व वैरागी सुधी श्रावकों व साधकों द्वारा प्रस्तुत ग्रथ ***'सार समुच्चय'*** के प्रत्येक श्लोक चिन्तनीय, मननीय एव ध्यातव्य हैं। इस ग्रथ का पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन करना, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति में कारण हैं। तथा इसका स्वाध्याय आत्म कल्याण के लिये प्रबल निमित्त है। इस का चितन आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत, वैराग्य का कोश है, यह ग्रथ जीवन में सदाचार, सयम व सतोष भावना के बीजों को अकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलीभूत करने के लिये खाद्य, जल सिंचन व अमृतोपमा-समीर के समान है। इस ग्रथ मे वर्णित सदाचार, संयम, परोपकार, वात्सल्य व मैत्री की शिक्षा के मार्ग में समीचीन साधक के लिये पाथेय के समान है।

सदाचार के सम्बन्ध में आचार्य भगवतों ने नमस्कार करते हुए कहा भी है-

सदाचारो बन्धु, गुण गण निधि मातु सम वा,
सदाचारो धर्मो, विगत इव दोषोऽद्भुत गति।
सदाचारो लोके, जनयति शशि सन्निभयशम्,
सदाचारो वदे, भव विभव हान्यै सुमनसा।।

अर्थ-सदाचार बन्धु है, गुण समूह रूपी निधि का आलय है, माता के समान हितानुशास्ता है। सदाचार धर्म है, दोषों से रहित है, अद्भुत गति का धारक व कारक है। सदाचार लोक में निर्मल व चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति को करने वाला है। इसलिये मैं विशुद्ध मन से (तीनों योगों की शुद्धि पूर्वक) ससार व ससार के विभव (भव हेतु व फलस्वरूप दु खनिधि) की हानि के लिये/नष्ट करने के लिये सदाचार को नमस्कार करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रथ ***"सार समुच्चय"*** के कर्त्ता परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री कुलभद्र स्वामी जी का विशद् जीवन परिचय भी हमें सहज सुलभ/उपलब्ध नहीं

हो सका। इतना अवश्य है कि आचार्य श्री कुलभद्र स्वामी जी आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी की निर्मल परम्परा के अद्वितीय सूर्य थे। ये आध्यात्मिक, भव भीरु, संयम साधक एव आगम वेत्ता महान आचार्य थे। रत्नत्रय की साक्षात् मूर्ति, करुणामृत से परिपूरित रत्नाकर थे, उसी करुणा का परिणाम आज अपने सामने दृष्टिगोचर है। रत्नत्रय रूपी उस चैतन्य तीर्थ के लिये मेरा सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित अनन्तश नमोस्तु ! वन्दना ! प्रणाम ! पूज्य आचार्य श्री द्वारा रचित सुभाषित श्लोकों का मधुर कठ से पाठ करने में जो आनन्द सकल सयमी जनों को आता है, वह आनन्द स्वर्ग के इन्द्र के लिये भी दुर्लभ है। इस ग्रथ की भाषा टीका/अनुवाद गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी ने करके इसे स्वाध्याय प्रेमियों के लिये और अधिक उपयोगी बना दिया है, तथा जनता जनार्दन पर लोकोत्तर उपकार किया है। आर्यिका माताजी सयम साधना करके अपने चरम लक्ष्य स्वरूप उत्तम समाधि को प्राप्त हों ऐसा उन्हें सुसमाधिरस्तु आशीर्वाद !

इस ग्रथ का प्रकाशन पूर्व में भी हो चुका था, किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध होने से पुन प्रकाशन की आवश्यकता हुई। श्रावकों के विनम्र आग्रह वश पुन प्रकाशित किया जा रहा है। आत्म कल्याण का सम्प्रेरक यह अनुपम ग्रथ प्रत्येक सुधी श्रावक के घर होना चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध सभी भव्य जीव इसके स्वाध्याय से अपनी कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, विषय-वासनाओं से विरक्ति एव सन्तोष वृत्ति को धारण करने में समर्थ हो सकें।

इस ग्रथ के प्रकाशन में सहयोगी ऐलक श्री विमुक्त सागर जी, छुल्लक श्री विशक सागर जी को सुसमाधिरस्तु आशीर्वाद, प्रकाशक-निर्ग्रन्थ ग्रथमाला, मुद्रक श्री अनिल कुमार जैन चन्द्रा कॉपी हाउस आगरा, पुण्यार्जक श्री अरुण जैन कृष्णा नगर दिल्ली एव प्रत्यक्ष व परोक्ष समस्त निस्वार्थ सेवी, सद् श्रद्धालु महानुभावो को धर्मवृद्धि आशीर्वाद।

इस ग्रथ के सम्पादन में जो कुछ भी त्रुटि रह गयी हैं, विज्ञजन उन्हें सूचित करते हुए सुधार कर सदर्थ/सदाशय को ही ग्रहण करें। सुधी पाठक भी हस-वत् गुणग्राही दृष्टि बना कर ग्रथराज को विनय पूर्वक आद्योपात पढने का सम्यक् पुरुषार्थ करें।

''इत्यलमति विस्तरेण''

श्री शुभमिती कार्तिक सुदी 11 सोमवार
वीर निर्वाण सम्वत् 2528
विक्रम सवत् 2058

जिनचरणानुचर सयमानुरक्त
कश्चिदल्पज्ञ श्रमण
26/11/2001 सोमवार
कुन्द-कुन्द भारती, दिल्ली।

सार समुच्चय

सार समुच्चय

विषय सूची

॥श्री वीतरागाय नमः॥

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचित

सार समुच्चय

(भाषा-टीकाकर्त्री: गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी)

मंगलाचरण

देवदेवं जिनं नत्वा, भवोद्भवविनाशनम्।
वक्ष्येऽहं देशनां काञ्चिन्मतिहीनोऽपि भक्तितः॥1॥

मैं कुलभद्र आचार्य ससारोत्पत्ति के नाशक देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके बुद्धिरहित होते हुए भी अर्थात् अल्पज्ञ होते हुए भी कुछ देशना कहता हूँ।

मगलाचरण का अर्थ है—मगल आचरण अर्थात् जो दु:खों का विध्वसक और सुखो का उत्पादक है। जिसके उच्चारण से विघ्नों का विनाश होता है, मिथ्यादृष्टि देव उपद्रव नहीं करते और इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है। ससार-समुद्र के विनाशक जिनेन्द्र के गुणों का स्मरण चिन्तन ही मंगलाचरण कहलाता है।

यद्यपि सरसो, जल से भरा हुआ घट, वन्दनमाला, श्वेत छत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, राजा, कन्या और जय सूचक शब्द भी मगल कहलाते हैं, इनका मिलना कार्य-सिद्धि का सूचक है, परन्तु ये मुख्य मंगल नहीं-क्योंकि ये निर्विघ्नता के सूचक हैं-विघ्न-विनाशक नहीं हैं। जिनेन्द्र के गुणो का स्मरण विघ्न-विनाशक है, पुण्योत्पत्ति मे कारण है, अत: यह मुख्य मंगल है। इसलिये

आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान के गुणो का स्मरण कर उनको नमस्कार किया है। कहा भी है-शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण करने से शीघ्र विद्या का लाभ, मध्य में करने से शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति और अन्त मे करने से विद्या का फल (अज्ञान का नाश) प्राप्त होता है। इसीलिये आचार्य शास्त्र के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मगलाचरण करते हैं॥1॥

1. आत्महित की आवश्यकता

दुःखमय संसार

ससारे पर्यटन् जन्तुर्बहुयोनिसमाकुले।
शारीर मानसं दु.खं, प्राप्नोति बत दारुणं॥2॥

बडे खेद की बात है कि नाना योनियो से भरे हुए इस ससार मे परिभ्रमण करता हुआ यह ससारी प्राणी दारुण शारीरिक और मानसिक दु.खो को भोगता रहता है।

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख जलकाय, सात लाख अग्निकाय, सात लाख वायुकाय, सात लाख नित्य निगोद, सात लाख इतर निगोद, दस लाख वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय, दो लाख तीन इन्द्रिय, दो लाख चार इन्द्रिय, चार लाख पचेन्द्रिय तिर्यच, चार लाख देव, चार लाख नारकी और चौदह लाख मनुष्य इस प्रकार चौरासी लाख योनियो से भरे हुए दु खमय ससार मे भ्रमण करते हुए इस जीव ने अनेक शारीरिक और मानसिक दु.खो को सहन किया है।

नरकगति मे इतने दु ख हैं कि उनका वर्णन करना भी सम्भव नहीं है-जहाँ की भूमि का स्पर्श करते ही असह्य7, वेदना होती है जो हजार बिच्छुओ के एक साथ काटने पर भी नहीं होती। भूख, प्यास, मारण, ताडन, कुम्भीपाक आदि अनेक दुःखो से भरा हुआ नरकवास है। वहाँ एक क्षण भी साता नहीं है। तिर्यंच गति मे छेदन, भेदन, भूख, प्यास, भारवहन, शीत, उष्ण, वध-बन्धन आदि के अनेक दुःख हैं। मनुष्यगति मे रोग-शोक, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-सयोग व तृष्णा की दाह आदि अनेक असह्य दुःख प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं। देवगति मे यद्यपि शारीरिक दु.ख नहीं है परन्तु इष्ट का वियोग,

ईर्ष्या, शोक, तृष्णा आदि मानसिक दु:ख अपार हैं। चारो ही गतियो मे शारीरिक और मानसिक दु:खों का अनुभव करता हुआ और पचेन्द्रिय सुखो को ही सुख मानता हुआ यह अज्ञानी प्राणी अनादि काल से अनेक दु.खो मे जलता हुआ ससार मे भ्रमण कर रहा है। आचार्यश्री ने खेद प्रगट किया है कि आत्मा परमात्मा के सदृश होते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर दु:खमय ससार मे भटक रहा है, आत्महित की ओर लक्ष्य नहीं देता॥2॥

आर्त्तध्यान दु:ख का कारण है

आर्त्तध्यानरतो मूढो, न करोत्यात्मनो हितम्।
तेनाऽसौ सुमहत् क्लेशं, परत्रेह च गच्छति॥3॥

आर्त्तध्यान मे लवलीन मूढ़ आत्मा अपना हित नहीं कर सकता है, अत यह ससारी प्राणी इस लोक में और परलोक मे बहुत भारी दु:ख प्राप्त करता है।

पीड़ा को आर्त्त कहते हैं और पीडा से उत्पन्न दु:ख मे चित्त का लीन हो जाना, आत्मस्वरूप को भूल कर केवल इन्द्रियजन्य सुख मे रात-दिन लवलीन रहता आर्त्तध्यान है। इस आर्त्तध्यान के चार भेद हैं-अनिष्ट-सयोगज, इष्ट-वियोगज, पीड़ा-चिन्तन और निदान।

अनिष्ट पदार्थो का सयोग होने पर उनके वियोग के लिये निरन्तर चिन्तन करना, मानसिक दु:खो मे लीन रहना अनिष्ट सयोगज नाम का आर्त्तध्यान है। इष्ट पुत्र, स्त्री, पौत्र, धन, धान्यादिक का वियोग हो जाने पर इनके सयोग के लिये बार-बार चिन्तवन करना, अश्रुपूरित नेत्र हो जाना इष्ट-वियोगज आर्त्तध्यान है। शारीरिक पीडा होने पर उसको दूर करने का व यह पीड़ा कैसे नष्ट हो इत्यादि चिन्तन करना पीडा-चिन्तन आर्त्तध्यान है। आगामी भोग-सामग्री मिले ऐसी चिन्ता करना निदान नाम का आर्त्तध्यान है।

इन चार प्रकार के आर्त्तध्यान मे लीन हुआ प्राणी इस लोक मे दु:खमय जीवन बिताता है तथा संक्लेश परिणामो से उपार्जित पापकर्म के कारण नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियो मे जाकर तीव्र दु:ख भोगता है। ऐसे प्राणी को आत्म-विश्वास नहीं होता, वह केवल इन्द्रियजन्य सुखो को ही सुख मानता है तथा रात-दिन विषय-भोगो के पीछे बावला रहता है। आत्मा और

अनात्मा के भेदज्ञान से विमुख होकर आत्मोन्नति के साधनभूत मानव-जन्म को प्राप्त कर व्यर्थ मे नष्ट कर देता है ॥3 ॥

आत्महित के साधन

ज्ञानभावनया जीवो, लभते हितमात्मनः।
विनयाचारसम्पन्नो, विषयेषु पराङ्मुखः ॥4 ॥

विनयाचार मे सम्पन्न तथा पचेन्द्रिय विषयसुखो से परागमुख हुआ जीव सम्यग्ज्ञान की भावना से आत्मा का हित कर सकता है।

आत्मा का हित है, सुख और शाति की प्राप्ति। आत्म-शाति वा आत्मीय सुख के घातक हैं विषयवासना और कषाय। इन विषय तथा कषाय रूप वैभाविक भावों के नाश का कारण है विनयाचार सम्पन्नता, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ आस्था, विषय वासना के प्रति उदासीनता तथा आत्मज्ञान की भावना।

आत्मज्ञान की भावना विषयसुख का विरेचन करने वाली परमौषधि है-इसीसे इन्द्रिय सुख विष तुल्य लगते हैं, वीतराग ज्ञाता, द्रष्टा शुद्धात्मा के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है-कर्म पटल झरने लग जाते हैं-अत: आत्म-इच्छुक को निरन्तर ज्ञानभावना के द्वारा आत्मा का चितन करना चाहिए। क्योकि मुख्यत: यही आत्मशांति वा आत्महित का साधन है ॥4 ॥

आत्मभावना ही विधेय है

आत्मानं भावयेन्नित्य, ज्ञानेन विनयेन च।
मा पुनर्म्रियमाणस्य, पश्चात्तापो भविष्यति ॥5 ॥

सम्यग्ज्ञान और विनय के द्वारा नित्य आत्मा की भावना करनी चाहिए, अन्यथा मरने के बाद सन्ताप होगा।

बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह निरन्तर भेदविज्ञान पूर्वक आदर (अत्यन्त आत्मीय अनुराग) सहित शुद्ध आत्मा का बार-बार मनन-चिन्तन करे। श्री जिनेन्द्रभक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, गुरु उपदेश-ग्रहण, सामायिक, जप-तप संयम आदि के द्वारा शुद्ध आत्म स्वरूप का अनुभव करना चाहिए,

यही आत्महित है। जो प्रमादी शरीर, कुटुम्ब धनादि मे आसक्त होकर आत्महित से पराड्मुख होता है, विषयवासना की ममता से आर्त्तध्यान मे लीन रहता है, वह निरन्तर पाप कर्म से आत्मा को मलिन कर नरकादि दुर्गतियो मे जाता है और वहाँ ताडन-मारन, छेदन-भेदन आदि अनेक दु:खों को भोगता है ॥5 ॥

ज्ञान भावनापूर्वक तप करणीय है

तथा च सत्तप. कार्य, ज्ञानसद्भावभावितम्।
यथा विमलतां याति, चेतो रत्नं सुदुर्धरं ॥6॥

जिस प्रकार से यह कठिनता से प्राप्त आत्मरूपी रत्न निर्मलता को प्राप्त हो, उसी प्रकार से ज्ञान की यथार्थ भावना करते हुए समीचीन तप करना चाहिए।

खान से रत्न का प्राप्त होना बहुत कठिन है। यदि दैवयोग से प्राप्त हो जाता है तो उसे बडे परिश्रम से शुद्ध कर उसका मैल दूर कर चमकता हुआ शुद्ध अमूल्य रत्न बना कर जो धनी बन जाता है, वह प्रशंसनीय होता है। इसी प्रकार अनादि काल से चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते-करते मानव-पर्याय का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। मानवपर्याय मे भी सम्यग्ज्ञान का लाभ अति दुष्कर है। आत्मज्ञान प्राप्त कर जो आत्मा को कर्म मल से छुडाकर शुद्ध बना लेता है वही प्रशंसनीय है। अत जिस किसी ज्ञानी को दुष्प्राप्य आत्मज्ञानरूपी रत्न की प्राप्ति हुई है, उसको उचित है कि जिस उपाय से यह आत्मा शीघ्र ही कर्म-मैल से छूटकर शुद्ध हो सके उसी उपाय से इसे शुद्ध करना चाहिए। अपनी शक्ति को न छिपाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना भाते हुए जिनागम के अनुसार यथार्थ तप करना चाहिए जिससे परिणामो मे शान्ति रहे, शरीर एव इन्द्रिय विषय सम्बन्धी सुखो मे आसक्ति छूटे, आत्मरस के रसिक बन विषय-कषायो का वमन करे और मन वश मे रहे। अत: उपवास, अवमौदर्य, व्रत परिसंख्यान, रसत्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश रूप बाह्यतप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान रूप अन्तरग तप का आन्तरिक भावनाओ से अभ्यास करना चाहिए तथा कषाय शक्ति का दमन कर आत्मध्यान द्वारा आत्मानुभव करना चाहिए ॥6 ॥

नरजन्म का सार: आत्मज्ञानपूर्वक संयम-धारण

नृजन्मनः फलं सारं, यदेतज्ज्ञानसेवनम्।
अनिगूहितवीर्यस्य, संयमस्य च धारणम्॥7॥

मानव-जन्म का यही सार (उत्तम) फल है जो अपनी शक्ति को न छिपाकर (शक्ति के अनुसार) सयम को धारण करना और आत्मज्ञान की भावना करना।

मानव-जन्म का प्राप्त होना अति दुर्लभ है, जैसे समुद्र मे गिरी हुई रत्नकणिका का प्राप्त होना दुर्लभ है। इस दुर्लभ मानव-जन्म की सार्थकता तभी हो सकती है, जब यह सयम को धारण करे।

सयम का साधन उत्तम धर्मध्यान और शुक्लध्यान इसी जन्म मे हो सकता है, पशु-देव एव नरकगति मे नहीं। अत इस अपूर्व अवसर को विषय-वासनाओं में नहीं खोना चाहिए अपितु सयम धारण कर आत्मानुभव का अभ्यास करना चाहिए। सयम के बिना आत्मसाधना नहीं हो सकती अत: सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो है निर्ग्रन्थ पद का धारण करना, यदि इतनी शक्ति न हो तो श्रावक के 11 पदो में से किसी एक पद को स्वीकार कर आत्म-साधना के सोपान पर आरूढ होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर चल कर मुक्ति पद का राही बनना चाहिए। जो मानव अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-सयम का पालन कर विषय-कषायो का दमन कर आत्मविशुद्धि करते हैं, उनका ही जन्म सफल है, वे ही मानव-जन्म के सार को प्राप्त करते हैं। जो इस उत्तम जन्म को विषयवासनाओ की पूर्ति मे नष्ट कर देते हैं, सयम से दूर रहते हैं, वे मानो चिन्तामणि रत्न को समुद्र मे फेककर पश्चात्ताप करते हैं॥7॥

संयमपूर्वक आत्मभावना विधेय है

ज्ञान-ध्यानोपवासैश्च, परीषहजयैस्तथा।
शीलसयमयोगैश्च, स्वात्मान भावयेत् सदा॥8॥

मानव-पर्याय को सार्थक करने के लिये शास्त्रज्ञान, आत्म-ध्यान तथा उपवास करते हुए तथा क्षुधा, तृषा आदि परीषहो को जीतते हुए, शील सयम एवं योगाभ्यास के साथ निरन्तर आत्मा की भावना करनी चाहिए।

आत्महित के इच्छुक मानव को निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन-चिन्तन तथा अनुभव करना चाहिए। आत्मा के अनुभव रूप कार्यसिद्धि के लिये शास्त्राभ्यास तथा ध्यान आवश्यक हैं। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये एव शारीरिक मानसिक विकारो का शमन करने के लिये उपवास की आवश्यकता होती है।

ध्यान एव उपवास की सिद्धि के लिये क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परीषहो को सहन करना भी आवश्यक हो जाता है। परीषह-विजयी वही महापुरुष बन सकता है, जो शील, सयम एवं योगाभ्यास (यम-आसन) आदि मे तत्पर हो। शील, सयम, तप, योगाभ्यास की साधना के बिना मानव-परीषह-विजयी नहीं बन सकता है। अत. परम शुद्ध वीतराग, ज्ञानानन्दमय-अमूर्तिक आत्मा का ध्यान वा आत्मानुभव करने के लिये शास्त्राभ्यास, ध्यान, उपवास, परीषहजय, शील, सयम, योगाभ्यास आदि मे मन को स्थिर करना चाहिए, क्योकि शास्त्राभ्यास, ध्यान, सयम, परीषह-जय आदि के बिना मन स्थिर नहीं होता और चित्त की स्थिरता के बिना आत्मध्यान नहीं हो सकता है ॥8 ॥

ज्ञानाभ्यास और तप करणीय है

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो, ध्याने चाध्ययने तथा।
तपसो रक्षणं चैव, यदीच्छेद्धितमात्मन. ॥9॥

हे आत्मन्! यदि आत्मा का हित चाहते हो तो, ध्यान मे और अध्ययन मे निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करो और तप की भी रक्षा करो।

आत्मज्ञान का अभ्यास ही आत्मा के लिये परम हितकारी है। आत्मज्ञान का अभ्यास आत्म-ध्यान, शास्त्र-पठन-पाठन, चिन्तन और मनन से होता है तथा शास्त्र-पठन-पाठन और आत्म-चिन्तन का साधन अथवा मुख्य कारण हैं-अनशन, अवमौदर्य आदि अन्तरग-बहिरग तप। अत: आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू अपना हित चाहता है वा तुझमे आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई है तो जब तक एकाग्र मन होकर ध्यान हो सके तब तक ध्यान के द्वारा ज्ञानाभ्यास कर, जब ध्यान मे मन न लगे तो वीतराग देव प्रणीत शास्त्रो

का पठन-पाठन, चिन्तन कर अर्थात् वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप पांच प्रकार के स्वाध्याय में चित्त को स्थिर कर। उपवास, ऊनोदर, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन आदि तपश्चरण की साधना करता रहे, जिससे इन्द्रियाँ एवं मन वश मे रहे, कषायो का दमन रहे और कष्ट सहन करने की क्षमता रहे॥9॥

ज्ञानादित्य का प्रभाव

ज्ञानादित्यो हृदि यस्य, नित्यमुद्योतकारकः।
तस्य निर्मलतां याति, पञ्चेन्द्रियदिगङ्गना॥10॥

जिसके हृदय मे सदा ज्ञान रूपी सूर्य प्रकाशित रहता है, उसकी पाँचो इन्द्रिय रूपी दिशा-अगनाये निर्मल रहती हैं।

सूर्य के प्रकाश से दिशाएँ प्रकाशित वा निर्मल रहती हैं, अन्धकारयुक्त नहीं होती और पथिक निर्मल दिशाओ मे इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। सूर्य के अभाव मे दिशाएँ अन्धकार युक्त मलिन हो जाती हैं, पथिक मार्ग भूल जाता है और भटक जाता है। इसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश मे स्पर्शन आदि पाचो इन्द्रिय रूपी दिशाएँ निर्मल एव निर्विकार रहती है। वे विषयवासना और कषायो के अन्धकार से मलिन विकारी नहीं होतीं, वश मे हो जाती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय ब्रह्मचर्य व्रत के पालन मे, जिह्वाइन्द्रिय सरस-नीरस भोजन-पान पाकर सतोष मे, नेत्र शास्त्र-अवलोकन, जिन-बिम्ब दर्शन आदि मे, कर्ण इन्द्रिय जिनवाणी के श्रवण मे, घ्राण इन्द्रिय सुगन्ध दुर्गन्ध के समभाव में तथा मन आत्मानुभव व तत्त्व-चिन्तन मे लग जाता है। मोक्ष का राही सरलता से मुक्तिमार्ग मे बढता रहता है। यदि शास्त्र-ज्ञान रूपी सूर्य से इन्द्रिय रूपी दिशागनाये प्रकाशित नहीं हैं, तो वे विकारी बन जाती हैं, अपने-अपने विषयों मे मदोन्मत्त हो जाती हैं, आत्मा इन्द्रियो के आधीन हो जाती है तथा मुक्ति-मार्ग को भूलकर ससाराटवी मे भटक जाती है। अतः आत्महितैषी का परम कर्त्तव्य है- आत्मध्यान एव शास्त्र-पठन-पाठन का अभ्यास करना॥10॥

ज्ञानाभ्यास का फल

एतज्ज्ञानफल नाम, यच्चारित्रोद्यम. सदा।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः, साधुसेवापरायणैः॥11॥

पापो से निर्मुक्त और साधु-सेवा मे तत्पर भव्य पुरुषों को नित्य चारित्र पालन करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योकि चारित्र का पालन करना ही ज्ञान प्राप्त करने का फल है।

शास्त्रों का पठन-मनन कर ज्ञान प्राप्त करने का फल है अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र धारण करना, क्योकि जीवन की ऊँचाई कोरे ज्ञान से नहीं आकी जा सकती। दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का मुख्य माप-दण्ड चारित्र ही है। जब तक मानव के जीवन मे ज्ञान साकार (चारित्ररूप) नहीं हो जाता तब तक कोरे ज्ञान से उसकी शोभा नहीं होती, न उसके किसी उद्देश्य की सिद्धि होती है अत: शास्त्राभ्यासी मानव का कर्त्तव्य है कि वह निरन्तर चारित्र-पालन करने का पुरुषार्थ करे। देवपूजा और दान देने मे तत्पर रह कर अपने मन और इन्द्रियो को वश मे कर सयम की आराधना करना ही ज्ञान का सार है ॥11॥

अन्तरात्मा ज्ञानामृत का पान करे

सर्वद्वन्द्व परित्यज्य, निभृतेनान्तरात्मना।
ज्ञानामृत सदा पेयं, चित्ताह्लादनमुत्तमम् ॥12॥

अन्तरात्मा सम्यदृष्टि को निश्चिन्त होकर, सर्व सासारिक उपाधियो का त्यागकर चित्त को आनन्दकारक उत्तम (श्रेष्ठ) आत्मध्यान से उत्पन्न ज्ञानामृत का पान करना चाहिए।

सासारिक द्वन्द्व आरम्भ, परिग्रह, आधि, व्याधि, उपाधि ही आत्मध्यान मे बाधक हैं। अत: आत्मध्यान के इच्छुक प्राणी को आरम्भ-परिग्रह का त्याग करना चाहिए। तदनन्तर एकान्त स्थान मे बैठकर निश्चल भावो से शुद्धात्मा के स्वरूप-चिन्तन से उत्पन्न परम आनन्ददायक ज्ञानामृत का पान करना चाहिए ॥12॥

प्रमाद मत कर

ज्ञान नाम महारत्न, यन्नप्राप्तं कदाचन।
ससारे भ्रमता भीमे, नानादु:खविधायिनि ॥13॥

अधुना तत्त्वया प्राप्त, सम्यग्दर्शन संयुतं।
प्रमादं मा पुनः कार्षी-विंषयास्वादलालसः ॥14॥

हे आत्मन् अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक दु:खो से व्याप्त इस भयानक ससार मे भ्रमण करते हुए तूने ज्ञान रूपी महारत्न को कभी प्राप्त नहीं किया। इस समय यदि किसी पुण्योदय से तुझे सम्यग्दर्शन सहित जो यह सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है तो पचेन्द्रिय-विषयो मे लुब्ध होकर प्रमादी मत बन।

आत्मा और अनात्मा के भेद-विज्ञान सहित सम्यग्ज्ञान का पाना अति दुर्लभ है। अनन्त काल तो इस जीव ने एकेन्द्रिय पर्याय मे व्यतीत किये, जहाँ पर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं थी बडी कठिनता से चिन्तामणिरत्न के समान त्रस पर्याय को प्राप्त किया तो वहाँ पर भी असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं मिला। सैनी पचेन्द्रिय मे भी सब को सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

किसी महान् पुण्योदय से सैनी पचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय को प्राप्त कर, **क्षयोपशमलब्धि**-अशुभ कर्मो के अनुभाग की हानि-वा सैनी पचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय की प्राप्ति। **विशुद्धिलब्धि**-कषायो की मन्दता य शुभ कर्मो के अनुभाग की वृद्धि। **देशनालब्धि**-समीचीन तत्त्वज्ञान के ज्ञाता गुरुजनो के द्वारा तत्त्व उपदेश के श्रवण का लाभ, श्रवण के बाद ग्रहण-मनन-चिन्तन की योग्यता। **प्रायोग्यलब्धि**-आयु कर्म को छोड शेष कर्मों की अन्त: कोटा कोटी स्थिति का होना। **करणलब्धि**-अध: करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामो के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन का उपशम वा क्षयकर-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना अतिदुर्लभ है।

यह अति दुर्लभ सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न इस आत्मा ने आज तक प्राप्त नहीं किया। जैसे रत्न प्राप्त होने से दारिद्र्य दूर हो जाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न की प्राप्ति से आत्मा अनादिकालीन कर्म-कर्ज से मुक्त होकर स्वात्म-निधि अनन्त सुख का खजाना बन जाता है।

किसी पुण्योदय से हे आत्मन्! तुझे सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न प्राप्त हुआ है। विषय वासनाओ के आधीन होकर इस रत्न को नष्ट नहीं करना। इस सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न के प्रकाश मे स्व को पहचानकर

विषय-कषायो का दमन कर चारित्र को धारण कर, ताकि इस ससार के जन्म, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग जनित तृष्णा के दाह से प्राप्त असहनीय दु·खो से छूट सके।

आचार्य श्री ने इस श्लोक मे सम्यग्ज्ञानी को सम्यग्ज्ञान नहीं खोने का उपदेश दिया है और सम्यग्ज्ञान के नाशक पचेन्द्रिय विषयो से विरक्त होकर चारित्र वा सयम को धारण करने की प्रेरणा दी है। क्योकि सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र को धारण करना है। जीवन-शोध और मुक्ति-लाभ के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने वाले साधक के जीवन मे ज्ञान (आलोक) परम सत्य की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) इन दोनो से प्रेरित प्रवृत्ति (चारित्र) ही व्यवस्थित रूप से कार्य करती है। जो इस त्रिपुटी का अवलम्बन लेता है, वही ससार मे सच्चा आध्यात्मिक यात्री है, मुमुक्षु है और वही अन्त मे चरम सीमा का आत्म-विकास प्राप्त कर सकता है। अत· आचार्य श्री ने सम्बोधित किया है कि हे आत्मन्! यदि तुझे सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हुई है तो तू शीघ्र ही चारित्र धारण कर विषयसुख का लम्पटी बन कर चारित्र धारण नहीं करेगा तो सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न नष्ट हो जाएगा। इसलिए प्रमाद मत कर ॥13-14॥

आत्मा ही सतत रक्षणीय है।

आत्मान सतत रक्षेज्ज्ञान-ध्यानतपो-बलै.।
प्रमादिनोऽस्य जीवस्य, शीलरत्नं विलुम्पते॥15॥

निरन्तर ज्ञान, ध्यान एव तपोबल के द्वारा आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। क्योकि प्रमादी जीव का शील रत्न (चारित्र) नष्ट हो जाता है।

पचेन्द्रियो के विषयो और कषायो मे मन को नहीं जाने देना ही आत्मा की रक्षा है क्योकि विषय और कषाय ही आत्मा के शत्रु हैं, आत्मघाती हैं। विषयवासनाओ और कषायो का दमन शास्त्र पठन, आत्मध्यान और तपश्चरण के द्वारा होता है। अत शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय), आत्मध्यान और अनशन, अवमौदर्य आदि बाह्य तप तथा प्रायश्चित आदि आन्तरिक तप साधना के द्वारा विषय वासनाओ का त्याग कर कषायो की कलुषता को दूर कर, वीतराग भावो को वृद्धिगत करने का प्रयत्न करना चाहिए यही आत्मा की

रक्षा है। यदि प्रमाद के वशीभूत होकर ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण की अवहेलना की जाएगी वा इनमे आलस्य करेंगे तो शील-रत्न (आत्म-स्वभाव-रमण रूप चारित्र) का नाश होगा और आत्मा ससार मे जन्म-मरण का दु:ख उठाती रहेगी। अत: आचार्य श्री ने कहा हे आत्मन्! शास्त्राभ्यास, आत्मध्यान और तपश्चरण के द्वारा आत्मा की रक्षा कर। इन कार्यों में प्रमाद मत कर। इनमें प्रमाद करने से आत्मा का घात होगा। रत्नत्रय का नाश हो जाने से अनन्त काल तक ससार मे भटकना पड़ेगा ॥15॥

नरक-पतन में कारण

शीलरत्नं हतं यस्य, मोहध्वान्तमुपेयुष:।
नानादु:खशताकीर्णे, नरके पतनं ध्रुवं ॥16॥

मोह रूप अन्धकार से ग्रसित, जिस प्राणी का चारित्र रूपी रत्न नष्ट हो गया, निश्चय से उसका अनेक दु:खों से व्याप्त नरक मे पतन होगा।

जो कोई अज्ञानी प्राणी विषय-कषायों मे आसक्त होकर आत्म-रुचि को वा अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा को नष्ट कर देता है, उसका चारित्र निश्चय से मलिन हो जाता है। वह विषय वासनाओ मे अन्धा हो जाता है। रात-दिन हिसा, झूठ, चोरी और परिग्रह की भावना से रौद्रध्यानी होकर अशुभ परिणामो से नरक आयु का बन्ध कर अनेक दु:खो से भरे हुए नरक रूपी गड्ढे में गिर कर दीर्घ काल तक महान् कष्ट भोगता रहता है। ॥16॥

स्वस्थ शरीर ही तप का साधन है

यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य, यावच्चेन्द्रियसम्पद:।
तावद्युक्तं तप. कर्त्तुं, वार्द्धक्ये केवलं श्रम: ॥17॥

जब तक शरीर की स्वस्थता (नीरोगता) है, इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने मे समर्थ हैं, तब तक तपश्चरण करना उपयुक्त है, अन्यथा बुढ़ापे में केवल खेद होगा।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि मानव का कर्त्तव्य है कि मानव-पर्याय को आत्मोन्नति का मुख्य साधन समझ कर जब तक शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियों की शक्ति शिथिल नहीं हुई है, तब तक आत्महित का साधनभूत तपश्चरण अवश्य करे।

आत्मध्यान का अभ्यास करे, उसे इन्द्रियो के विषयों में फँसकर अपने मानव-जन्म को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए। वृद्धावस्था मे जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है तब तपश्चरण करना बहुत कठिन होता है। अतः इस सुअवसर को व्यर्थ मे नष्ट कर दुर्गति का पात्र नहीं बनना चाहिए॥17॥

पण्डित कौन?

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं, ज्ञानं कर्म - परिक्षये।
उपयोगिधनं पात्रे, यस्य याति स पण्डित.॥18॥

जिसका सच्चा पुरुषार्थ शुद्ध आत्मज्ञान पूर्वक तप मे, ज्ञान कर्मों का क्षय करने मे और उपयोगी धन सत्पात्रो मे लगता है, वही पण्डित है।

आत्मबल या शरीरबल की सफलता है समीचीन तपश्चरण करना। शास्त्राभ्यास वा सम्यग्ज्ञान का फल है—कर्मों के नाश करने का प्रयत्न करना अर्थात् चारित्र का पालन करनो।

धन प्राप्त करने की सफलता है—सत्पात्रो को दान देना जो विवेकी मानव समीचीन तपश्चरण करते हुए अपने शरीर को क्षीण करता है, सम्यग्ज्ञान के द्वारा कषायो को मन्द कर कर्मों का क्षय करने के लिए निर्दोष चारित्र का पालन करता है और सत्पात्रो के दान मे अपने धन का व्यय करता है, वही पण्डित है और उसका ही शारीरिक बल, सम्यग्ज्ञान तथा धन प्राप्त करना सार्थक है॥18॥

पुण्यात्मा कौन?

गुरुशुश्रूषया जन्म, चित्तं सद्-ध्यान-चिन्तया।
श्रुतं यस्य समे याति, विनियोग स पुण्यभाक्॥19॥

जिसका जन्म गुरुजनो की सेवा करने मे, मन यथार्थ आत्मध्यान के मनन मे और श्रुतज्ञान समता भाव मे काम आता है, वही पुण्यात्मा है।

परम दयालु, आरम्भ-परिग्रह एव विषय-वासनाओ के त्यागी, ज्ञान, तथा तपश्चरण मे लीन रहने वाले, सन्मार्ग के उपदेष्टा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा, भक्ति करने मे जिसका जन्म व्यतीत होता है, जो विषय-वासना और कषायो

मे भटकते हुए मन को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के द्वारा आत्म-चिन्तन प्राप्त कर सुख-दु:ख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र आदि में समभाव रखता है। वही पुण्यात्मा है, अत विवेकी का कर्तव्य है कि गुरु की भक्ति-सेवा में जन्म का सदुपयोग करे। विषय-वासना से पराङमुख हो मन को आत्म-चिन्तन वा शास्त्र पठन-पाठन मे लगावे और सद्ज्ञान को प्राप्त कर समता धारण करे, यही जन्म, मन और सद्ज्ञान की सफलता है ॥19 ॥

शूरवीर का लक्षण

छित्वा स्नेहमयान् पाशान्, भित्वा मोहमहार्गलाम्।
सच्चारित्रसमायुक्त , शूरो मोक्षपथे स्थित ॥20॥

स्नेहमयी पाशो को छेद कर मोह रूपी महान् अर्गला को तोडकर सम्यक्चारित्र से युक्त शूरवीर ही मोक्षमार्ग मे स्थित है।

जैसे बन्द कपाटो मे भीतर की वस्तु दिखाई नहीं देती है। वैसे ही मिथ्यात्व की आड जब तक रहती है तब तक अपनी आत्मा का दर्शन नहीं होता। अत जो भव्यात्मा मिथ्यात्व की आड को तोड कर आत्मदर्शी बनता है, आत्मावलोकन करने वाला सम्यग्दृष्टि बनता है तथा जगत् के स्नेहमयी फन्दो को तोडकर वैराग्यवान बन जाता है, ज्ञान-वैराग्य के साथ निश्चय व्यवहार चारित्र का पालन करता हुआ मोक्ष-मार्ग मे तत्पर होता है, निश्चय व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर मुक्ति का राही बनता है, वही सच्चा शूरवीर है ॥20॥

मोह का माहात्म्य

अहो मोहस्य माहात्म्यं, विद्वासो येऽपि मानवा ।
मुह्यन्ते तेऽपि संसारे, कामार्थ-रति-तत्परा· ॥21॥

बडे खेद की बात है, मोह का माहात्म्य देखो कि जिसमे ज्ञानी पुरुष भी काम और धनैषणा मे लीन होकर सासारिक पदार्थो मे मोहित हो जाते हैं।

मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है, जो जीव मात्र को विवेक-विकल बना देती है। सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं होने देना, आत्मा मे विकृति उत्पन्न करना, सासारिक विषय वासनाओ मे आसक्ति उत्पन्न करना मोहनीय कर्म का कार्य है। आचार्य खेद के साथ कहते है कि अज्ञानी मूढ प्राणी धनैषणा,

विषयों की वाछाओ, कामवासनाओं और परिवारजनो में आसक्त होकर आत्महित से पराडमुख हो जाता है, सासारिक वैभव वा इन्द्रियजन्य सुखो मे मोहित हो जाता है, उसमे कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु जो मानव तत्त्वज्ञ है, दिन-रात शास्त्रीय चर्चा मे लग्न रहते हैं, वे यदि अहर्निश धनोपार्जन एव इन्द्रियजन्य सुखो मे मग्न रहते हैं, सयम-पालन करने के लिये उत्सुक नहीं होते हैं तो यह आश्चर्य की बात है। इसका कारण है—मोहनीय कर्म। यह मोह कर्म का ही माहात्म्य है जिससे विद्वान् तत्त्वज्ञ पुरुष भी इन्द्रिय सुख मे मोहित होकर ससार मे भटक जाते हैं। इसलिये श्री आचार्य ने पूर्व के श्लोक में कहा है कि जो मोह की अर्गला को तोडकर, स्नेह के जाल को छेदकर चारित्र का पालन करता हुआ मोक्षमार्ग मे स्थिर होता है, वही शूर है। जो मोह पर विजय प्राप्त नहीं करता, वह कायर है।

जब तक मोह का विनाश नहीं होता, तब तक सच्चा ज्ञान और वैराग्य भी नहीं होता, अतएव मोह (मिथ्यात्व) को दूर करना ही श्रेयस्कर है, मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र का पालन करना ही आत्महित है॥21॥

2. 'आतम के अहित विषय-कषाय'

धर्म रूपी धन को हरण करने वाले चोर

काम क्रोधस्तथा लोभो, रागद्वेषश्च मत्सर·।
मदो माया तथा मोहः, कन्दर्पो दर्प एव च॥22॥
एते हि रिपवो चौरा, धर्म-सर्वस्वहारिण:।
एतैर्बभ्रम्यते जीवः, ससारे बहुदु.खदे॥23॥

काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष, मात्सर्य, मद, माया, काम-सेवन की छच्छा और अहकार (दर्प) ये ही शत्रु निश्चय से धर्म रूपी सर्व धन को हरण करने वाले चोर हैं। इन्हीं के कारण यह प्राणी अति दु.खदायक ससार मे भ्रमण करता है।

विषयो के सेवन की इच्छा को काम कहते हैं। गुस्सा को क्रोध कहते हैं। क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक सवेग है। इसके उत्तेजित होते ही प्राणी

भावाविष्ट हो जाता है, जिससे उसकी विचारक्षमता और तर्कशक्ति शिथिल हो जाती है, उचित अनुचित का विवेक लुप्त हो जाता है। चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा को लोभ कहते हैं। अभिलाषा, सग्रह-वृत्ति, सासारिक पदार्थों में आसक्ति आदि इसी की पर्याय हैं, या इसी मे उत्पन्न होते हैं।

पचेन्द्रियजन्य विषयो मे रति वा आसक्ति राग है। प्रतिकूल विषयों मे अरति द्वेष है। मत्सर-ईर्षा-दूसरो के वैभव आदि को देखकर भीतर ही भीतर जलते रहना। कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, ज्ञान, तप और शारीरिक सौन्दर्य को प्राप्त कर अभिमान करना, दूसरो को तुच्छ समझना, गुणीजनो का विनय-आदर नहीं करना मद है। छल कपट-मन, वचन, काय मे एकता का नहीं होना, वचन मे कुछ बोलना और काय की चेष्टा वचन से विपरीत होना और मानसिक चेष्टा कुछ और होना माया है। आत्मा को मोहित कर सम्यग्दर्शन से च्युत करने वाला मोह कहलाता है। काम सेवन की इच्छा कन्दर्प कहलाती है। घमण्ड अहंकार का नाम दर्प है।

काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, मात्सर्य, मद, माया, मोह, कन्दर्प, दर्प ये ही आत्मा के विभाव भाव हैं। ये विकारी भाव ही निश्चय से आत्मा के शत्रु हैं। इनके कारण ही आत्मीक वीतराग परिणति लुप्त हो जाती है। अत ये सब औपाधिक भाव आत्म स्वभाव रूप धर्म धन के चुराने वाले तस्कर (चौर) हैं। इन्हीं विभावो के कारण आत्मा दीर्घकाल से बहु दु:खमय ससार मे भ्रमण करता है। तथा जन्म-मरण, भूख, प्यास आदि अनेक दु:ख भोगता है ॥22॥

संसार परिभ्रमण का कारण

रागद्वेषमयो जीव , कामक्रोधवशे गत.।
लोभमोहमदाविष्ट:, ससारे ससरत्यसौ ॥24॥

काम-क्रोध के वशीभूत हुआ यह रागी-द्वेषी प्राणी लोभ, मोह और अहंकार से आविष्ट हो संसार मे भ्रमण करता है।

काम-क्रोध के वशीभूत हुआ प्राणी रागी-द्वेषी हो जाता है। आत्मीय स्वरूप को भूलकर अविवेकी बन जाता है। लोभ-मद-मोह को प्राप्त होता है।

तथा इन कषायों के कारण ससार मे भटकता है अर्थात् ससार मे भटकाने वाली ये कषाये हैं, मोह मिथ्यात्व रूप आत्मा के विभाव भाव हैं॥124॥

मोक्षगामी कौन ?

सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो, जैनभक्तः जितेन्द्रियः।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो, मोक्षभागी न संशयः॥25॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न, जिनेन्द्र भगवान का भक्त जितेन्द्रिय, लोभ, मोह और मद का त्याग करने वाला जीव मोक्ष पद का भागी बनता है, इसमे कोई सशय नहीं है।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और उनकी कारणभूत क्रोधादि कषाय ससार के कारण हैं। इनसे विपरीत तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान् 'वा सच्चे देव' शास्त्र गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर जितेन्द्रिय बनना और लोभादि कषायो का विध्वस करना सम्यक्चारित्र है। इस रत्नत्रय की प्राप्ति जिनेन्द्र भक्त को ही होती है। अतः जो जिन भक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से युक्त होकर लोभ, मोह, मद को छोड देता है तथा इन्द्रियो के विषयो से पराङ्मुख हो जितेन्द्रिय होता है वही मोक्ष को प्राप्त करता है, इसमे सशय नहीं है।

आत्म सुख के घातक

काम-क्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः।
एतेन निर्जिता यावत्, तावत्सौख्य कुतो नृणा॥26॥

काम, क्रोध और मोह ये तीनों विकारी भाव आत्मा के महान् शत्रु हैं। जब तक यह मानव इन तीनो शत्रुओ से पराजित है, इनके वशीभूत है, तब तक उसे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

सच्चा सुख निराकुलता वा आत्मानुभव है। वह निराकुल आत्मीय सुख कषायों के अभाव मे ही प्राप्त होता है। "जिसका मनरूपी जल, रागद्वेषरूपी तरगों से चंचल नहीं है, वे ही आत्मानुभव, वा आत्मदर्शन कर सकते हैं, रागी-द्वेषी नहीं। यदि आत्मा का स्वभाव मिथ्यात्व (मोह) काम, क्रोध आदि

विकारो से मलिन है तो कलुषता का ही अनुभव होता है, जैसे लवण से मिश्रित जल का स्वाद खारा हो जाता है शुद्ध जल का स्वाद नहीं आता, वैसे ही जो मानव काम, क्रोध, मोह रूप विकार भावो का अनुभव कर रहे हैं, उनको शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। मोह मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ प्राणी अपने स्वभाव को भूलकर कर्मजनित शरीरादि को ही अपना मान लेता है। कामवासना के कारण पंचेन्द्रियजन्य विषयो को ही अमृत की धार मानता हुआ विषय-भोगो मे रत होकर अपने को भूल जाता है। क्रोध के आधीन हुआ हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य हो जाता है। अत. ये तीनों विकारी भाव आत्मा के महाशत्रु हैं, आत्मीय सुख के घातक हैं। इनके आधीन हुए मानव को सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे विष मिश्रित जल पीने योग्य नहीं होता वैसे इन तीनो भावों का अनुभव करना योग्य नहीं है ॥26 ॥

ज्ञान के समान सुख नहीं

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्नि-र्नास्ति ज्ञान समं सुख ॥27 ॥

कामवासना के समान कोई रोग नहीं है, मोह के समान कोई शत्रु नहीं है, क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है और ज्ञान के बराबर कोई सुख नहीं है।

यह शरीर अजीर्ण, ज्वर, भगन्दर, खासी, कोढ आदि अनेक व्याधियो का मन्दिर है। परन्तु इन सब व्याधियो की औषधि है। यदि कोई रोग असाध्य भी है तो इस लोक मे ही पीडा करता है परलोक मे साथ नहीं जाता, परन्तु कामवासना का रोग सर्व रोगो से बढकर है, इसके बराबर कोई दूसरी व्याधि नहीं है। क्योकि यह व्याधि आत्मा के सद्गुणो की नाशक है, शरीर को नि:सत्व और मन को कलुषित करती है, सामाजिक, नैतिक, मर्यादाओ का उल्लघन करती है, अभ्युदय मे विकट बाधा उपस्थित करती है, और इस विकार मे पडकर व्यक्ति अन्यान्य पापों का शिकार बन जाता है। कामी मानव मर कर नरक मे जाते हैं। अत कामवासना के समान दूसरा रोग नहीं है।

आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है, क्योकि अन्य शत्रु तो सम्पदा वा शरीर के ही घातक हैं, परन्तु मिथ्यात्व तो आत्मा के सर्व गुणों का घातकर नरक निगोद मे पटक कर अनादि काल से दु:ख दे रहा है। आत्मा की स्वरूप-च्युति का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। इस शत्रु ने आत्मा को भ्रम मे ही नहीं डाला अपितु-आत्म-शान्ति का विध्वस भी किया है। अत: यही चौरासी लाख योनियों मे भटकाने वाला, आत्मगुणों का विनाशक, आत्मा का परम शत्रु है।

भौतिक अग्नि सासारिक घर-सम्पदा और शरीर को जलाती है परन्तु क्रोध रूपी अग्नि आत्मा की शान्ति, सुख-साता, निराकुलता आदि सर्व गुणों को भस्म कर घोर अनर्थ मे प्रवृत्ति कराती है। तीव्र कर्मबन्ध कराकर परलोक मे दु ख-सागर मे गिरा देती है अत: क्रोधाग्नि के समान और कोई दाहक अग्नि नहीं है। संसार मे मानिसक शारीरिक अनेक सुख हैं परन्तु सम्यग्दज्ञान के बराबर कोई दूसरा सुख नहीं है।

ज्ञान समान न आन, जगत् में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग-निवारण॥

विषयवासना की इच्छारूपी अग्नि को बुझाने मे ज्ञान ही समर्थ है। धन-धान्य, सासारिक वैभव विनाशीक हैं और आकुलता के उत्पादक हैं, दु:ख के कारण हैं। आत्मज्ञान ही अविनाशी है और निराकुलता का साधन है। सम्यग्ज्ञान ही परम सौख्य प्रदान करने वाला है। अत: मोह, काम और क्रोध को जीतकर ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। सम्यग्ज्ञान के बल पर ही शारीरिक एव मानसिक कष्टो पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है॥27॥

विषय-कषायो के अभाव में ही सुख

कषायविषयार्त्तानां, देहिनां नास्ति निर्वृत्तिः।
तेषा च विरमे सौख्यं, जायते परमाद्भुतम्॥28॥

कषाय और इन्द्रियजन्य विषयो से पीडित प्राणियो को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। कषाय और विषयो से विरक्त होने पर ही परम अद्भुत सुख की प्राप्ति होती है।

इन्द्रियजन्य विषयों की इच्छा और विषय-तृष्णा की कारणभूत कषाय जब तक आत्मा को पीड़ित करती हैं, ज्ञानधारा में चलती रहती हैं, तब तक आत्मा कर्म-बन्ध से छूटकर मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि कषाये और विषयवासना ही मुक्तिसुख की बाधक हैं। जब कषाय और विषयवासना रूप विभाव भावो का अभाव हो जाता है, तब परम आनन्दकारक अनिर्वचनीय अद्‌भुत सुख की प्राप्ति होती है ॥28 ॥

आत्मचिकित्सा की प्रेरणा

कषायविषयैः रोगैश्चात्मा च पीडितः सदा।
चिकित्स्यतां प्रयत्नेन, जिनवाक्सारभैषजै. ॥29॥

कषायो और पचेन्द्रिय विषयरूपी रोग के द्वारा यह आत्मा सदा पीडित रहता है। अत. जिनवचन रूपी उत्तम औषधि के द्वारा प्रयत्नपूर्वक इन रोगो की चिकित्सा करनी चाहिए।

अनादि काल से यह ससारी आत्मा क्रोधादि कषायों और पचेन्द्रिय विषयो की तृष्णा रूपी असाध्य व्याधि से पीड़ित है। यह रोग भौतिक औषधियों से दूर नहीं हो सकता। इस रोग को दूर करने की औषधि है—जिनवाणी का मनन-चिन्तन, पठन-पाठन और ग्रहण। जिनवचनामृत का पान किये बिना कषायो एव विषय-वासनाओं का राग नहीं मिट सकता। अतः इस रोग को मिटाने के लिये जिनवचन रूपी औषधि का सेवन करना चाहिए। अर्थात् जिनवचनो के अनुसार चल कर विषय-कषायों का विनाश कर आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहिए ॥29 ॥

आत्मा का रक्षक सयम

विषयोरगदष्टस्य, कषायविषमोहितः।
सयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥30॥

जो विषय रूपी सर्प के काटने से कषायरूपी विष से मूर्च्छित हैं, ऐसे प्राणियों का सयम रूपी महामन्त्र ही सर्वत्र रक्षक है।

विषयवासना के उद्वेग से कषायें प्रज्ज्वलित होती हैं और प्राणी अपने स्वरूप को भूल जाता है। अतः विषयवासनाओं को सर्प और कषायों को विष कहा गया है। जैसे विष को उतारने में मंत्र समर्थ होता है, वैसे ही

कषायरूपी विष का नाश करने के लिये सयमरूपी महामत्र ही समर्थ है। कषायो के कारण कर्मों में स्थिति-अनुभाग पड़ता है और सयम से कर्मो के स्थिति-बन्ध और अनुभाग बन्ध का विनाश होता है। अतः सयम की आराधना कर कर्मों के विनाश का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यही विषय-नाग के दंश से बचाने वाला है ॥30॥

कषाय-कलुषित जीव की दशा

कषायकलुषो जीव·, रागरञ्जितमानसः।
चतुर्गतिभवाम्बोधौ, भिन्ना नौरिव सीदति॥31॥

जो प्राणी कषायों से कलुषित है, जिस का मन राग भाव से रजित है, वह चार गति रूपी ससार-समुद्र में टूटी हुई नौका के समान दुःख उठाता है।

जैसे छिद्र सहित नौका मे पानी आता है और जब नौका पानी के भार से डगमगाती है, जलमग्न होने लगती है, तब नौका मे स्थित मानव दुःखी होता है, आकुलित होकर हाय-हाय करता है, उसी प्रकार जब मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वारा कर्मरूपी जल का आगमन होता है तब जीवन नौका डगमगाती है और मानव चार गति रूप दुःख-समुद्र मे दुःखी होता है।

चार गतिरूप ससार-समुद्र है, यह प्राणी नौका मे बैठने वाला जीव है। शरीर नौका है या आत्मपरिणति नौका है, कषाय-राग-द्वेष ये नौका के छिद्र हैं, कर्मो का आगमन जल है, कर्मरूपी जल के भार से ससार-समुद्र मे डूबता हुआ प्राणी दुःखी होता हैं। जन्म-मरण रूप तरंगों की चपेटो से आहत होकर वह विलाप करता है। शारीरिक मानसिक दुःखों से पीड़ित रहता है। अत· कषायों के छिद्र को रोक कर कर्मास्रव का विनाशकर सुखी बनना चाहिए॥31॥

कर्मबन्ध का कारण

कषायवशगो जीवो, कर्म बध्नाति दारुणम्।
तेनाऽसौ क्लेशमाप्नोति, भवकोटिषु दारुणम्॥32॥

कषायो के वशीभूत हुआ यह जीव तीव्र कर्मो का बन्ध करता है और उस कर्म के कारण ही करोड़ो भवो मे घोर क्लेशो (दु ःखों) को प्राप्त होता है।

प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के भेद से कर्मबन्ध चार प्रकार का है।

कर्मो के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। कार्माण वर्गणाओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध है। कर्मबन्ध के बाद अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना, आत्मा के साथ बंधे रहना स्थिति बन्ध है। फल देने की शक्ति का नाम अनुभाग बन्ध है।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है और स्थिति एव अनुभागबन्ध कषाय से होता है। कषाय जितनी तीव्र होगी, उतनी ही कर्मो की स्थिति अधिक होगी और अनुभागबन्ध भी विशेष होगा। ससार का कारण स्थितिबन्ध और सासारिक दु खो का कारण अनुभागबन्ध है।

यह अज्ञानी प्राणी कषायो के वशीभूत हो पचेन्द्रिय-विषयो मे प्रवृत्ति करता है। अपने स्वभाव को भूलकर हिसादि पापो मे फस जाता है। न्याय-नीति को छोडकर कुमार्ग-सेवन करता है। भक्ष्य-अभक्ष्य के विचार से शून्य हो अनर्गल प्रवृत्तियाँ करता है, जिसके कारण तीव्रतम कर्म बाध कर अनन्त काल तक ससार मे भटकता हुआ जन्म-मरण, भूख-प्यास, छेदन-भेदन आदि अनेक असह्य दु ःखो को भोगता है, जो वचन के अगोचर है एव केवल-ज्ञान-गम्य हैं ॥32 ॥

ससार एव मोक्ष का बीज

कषायविषयैश्चित्त, मिथ्यात्वेन च सयुतम्।
संसारबीजता याति, विमुक्त मोक्षबीजताम् ॥33 ॥

कषाय, विषय और मिथ्यात्व से सयुत (मलिन) चित्त ससार का कारण है और इनसे विमुक्त मन मोक्ष का कारण है।

जो आत्मा को कषती है, दुःख देती है, आत्मा के स्वाभाविक गुणो का घात करती है, वह कषाय है। वा-कष् धा कर्षण मे तु आती है, जैसे—किसान खेत का जितना अधिक कर्षण करता है उतना ही धान्य विशेष उत्पन्न होता

है। उसी प्रकार जितनी कषाय अधिक होती है उतना ही कर्मरूपी धान्य अधिक उत्पन्न होता है अत: आत्मा का कर्षण करने वाली कषाय कहलाती है।

पचेन्द्रियजन्य भोग विषय कहलाते हैं। अतत्त्व श्रद्धान मिथ्यादर्शन कहलाता है। मिथ्यादर्शन से विमोहित हुआ जीव सासारिक सुखों को ही अमृत की धारा मानता है। विषयो का लोलुपी होकर वह कषायो मे रच-पच जाता है और आत्मस्वरूप को भूल जाता है। निरन्तर विषय-वासनाओ मे लीन हो कषाय और मिथ्यात्व के कारण अनन्त ससार के कारणभूत कर्मो का बन्ध करता है और ससार में भटकता रहता है। जो विवेकी मानव गुरु के उपदेश से वा जिनवाणी के अभ्यास से स्व-पर का भेद-विज्ञान प्राप्त कर मिथ्यात्व का वमन और कषायो का दमन कर विषय-भोगो की आसक्ति को छोडकर सयम की आराधना करता है, वह मुक्तिपद को प्राप्त करता है, क्योकि विषयो की आसक्ति कषायभाव और मिथ्यादर्शन ही ससार का बीज (कारण) है और इनसे विपरीत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति के कारण हैं।

सम्यग्दर्शन का घातक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन सहित ज्ञान मिथ्याज्ञान है और मिथ्यादर्शन एव मिथ्याज्ञान सहित विषयो मे प्रवृत्ति मिथ्याचारित्र है। अतएव आचार्य श्री ने इस श्लोक मे ससार और मोक्ष के कारण का वर्णन करते हुए सक्षेप मे कहा है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारण हैं॥33॥

कषाय के अभाव और इन्द्रियनिग्रह का फल

कषायरहितं सौख्य, इन्द्रियाणा च निग्रहे।
जायते परमोत्कृष्ट-मात्मनो भवभेदि यत्॥34॥

इन्द्रियों का निग्रह करने से आत्मा को परमोत्कृष्ट कषाय रहित वीतराग, आनन्द उत्पन्न होता है, जो ससार का छेदक है।

पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त होने पर ज्ञानोपयोग आत्मस्वरूप मे नहीं जाता, इसलिए वह आत्मा के स्वाभाविक निराकुल वीतराग श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता। जब यह जीव पचेन्द्रियो के विषयो से उपयोग को

हटाकर अपने स्वरूप में लीन हो जाता है, तब उसे अतीन्द्रिय कषाय रहित आत्मानुभव रूप वीतराग आनन्द का स्वाद आता है। वह सर्वोत्कृष्ट आनन्द ही भव का नाशक है। पचेन्द्रिय-विषयो की आसक्ति वीतराग ध्यान की बाधा और आत्मीय सुख की विघातक है।

आचार्यश्री ने इस श्लोक मे यह सूचित किया है कि पचेन्द्रियो का निग्रह कर सयम की आराधना किये बिना कषाय रहित वीतराग आत्मा के अनुभव रूप परम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती और ससार का उच्छेद भी नहीं हो सकता है इसलिए पचेन्द्रिय का निग्रह कर संयम की आराधना करो, यही भव का विनाशक है ॥34 ॥

ज्ञानी पुरुषों का कथन

कषायान् शत्रुवत् पश्येद्विषयान् विषवत्तथा।
मोह च परम व्याधिमेवमूचुर्विचक्षणा. ॥35 ॥

विवेकी ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि कषायो को शत्रु के समान, पचेन्द्रिय विषयो को विष के समान और मोह को परम व्याधि (महारोग) के समान समझो।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाये ही कर्मबन्ध की कारण हैं। इनके कारण यह आत्मा ससार मे जन्म-मरण कर अनन्त दु.ख भोगती है अत॰ ये ही आत्मा की वास्तविक शत्रु हैं।

जिस प्रकार विष भक्षण करने से प्राणी मूर्च्छित वा विवेक शून्य हो जाता है, उसी प्रकार विषयवासना भी प्राणी को विमोहित कर उसको विवेक से शून्य कर देती है। अत॰ यह विषधर के विष से भी अधिक विष रूप है।

मोह (मिथ्यादर्शन) परम-व्याधि, असाध्य रोग है। व्याधि तो एक भव मे पीड़ा देने वाली है परन्तु मोह रूपी व्याधि अनेक भवो मे कष्ट देने वाली है। अत: महात्मा ऋषियो ने कहा है कि हे आत्मन् ! तुम कषायो को भव-भव मे रुलाने वाला शत्रु, विमोहित कर स्वरूप को भुलाने वाली विषयवासनाओं को भयकर प्राणनाशक विष और मोह को असाध्य रोग जानो तथा इनसे बचने का प्रयत्न करो ॥35 ॥

धर्मरत्न के चोर

कषाय-विषयैश्चौरै-र्धर्मरत्न विलुप्यते।
वैराग्यखड्गधाराभिः, शूरा. कुर्वन्ति रक्षणम्॥36॥

कषाय और विषय रूपी चोरो के द्वारा धर्मरूपी रत्न चुराया जाता है। अत. शूर (ज्ञानीजन) वैराग्य रूपी तलवार की धार से धर्म रूपी रत्न की रक्षा करते हैं।

जो ससारी प्राणियो को सासारिक दु.खो से निकाल कर उत्तम सुख मे पहुँचाता है, वह धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। क्योकि ये सासारिक दु·खो से छुडाकर आत्मा को उत्तम सुख मे स्थापित करते हैं।

मोह-क्षोभ रहित परिणाम को चारित्र कहते हैं, वह धर्म है, क्योकि वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव ही धर्म है। जो अपनी जाति मे श्रेष्ठ होता है, वह रत्न कहलाता है। आत्मा के सर्व भावो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणाम ही श्रेष्ठ हैं अत ये रत्न कहलाते हैं। कषाय-परिणति और पचेन्द्रियजन्य विषयो की आसक्ति रत्नत्रय की घातक है अत: आचार्यश्री ने कहा है कि कषायकलिका तथा विषयासक्ति रूपी तस्कर रत्नत्रय रूप धर्म के चुराने वाले हैं। जैसे तलवार की धार से चोरो को हटाकर शूरवीर पुरुष रत्नो की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जन वैराग्य रूपी तलवार की धार से रत्नत्रय रूपी धर्मरत्न की रक्षा करते है। अर्थात् ज्ञानीजन वैराग्य (आकिन्चन्य धर्म) रूपी तलवार के द्वारा विषय एव कषाय रूप चोरो पर ऐसा प्रहार करते हैं कि वे विषय-कषाय चोर घायल होकर भाग जाते हैं और रत्नत्रय धर्म सुरक्षित हो जाता है। यह वैराग्य भाव ही वास्तविक तलवार है इसके बिना विषय और कषाय रूपी चोरो का घात नहीं किया जा सकता है। ॥36॥

3. सम्यग्दर्शन का महत्व

सम्यग्दर्शन ही पथ्य है

कषायकर्षणं कृत्वा, विषयाणामसेवनम्।
एतद् भो मानवा.। पथ्य, सम्यग्दर्शनमुत्तमम्॥37॥

भो मानवो (हे भव्य प्राणियो) कषायो को कृश करके विषयो का सेवन नहीं करना, इसका पक्ष्य या हितकारी उपाय निर्दोष सम्यग्दर्शन है।

विषय-कषायों को दूर करने के लिये पथ्य के समान उपाय निर्दोष सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से आत्मप्रतीति होती है कि मेरा आत्मा परमात्मा के समान अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य) का धनी है। क्रोधादि कषायजन्य विकार आत्मस्वरूप के घातक हैं, आत्म-स्वभाव नहीं विभाव हैं। पचेन्द्रियो के विषय खारे पानी के समान तृष्णा को प्रज्ज्वलित कर आत्मशान्ति का विघात करते हैं। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ऐसी दृढ प्रतीति होती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि कषायो के शमन करने का प्रयत्न करता है। विषयसुख मे उसकी रुचि नहीं होती अत. आचार्यदेव ने मनुष्यो को सम्बोधित करके कहा है कि हे मानवो! कषायो के कृश करने का और विषयों से विरक्त होने का मुख्य कारण सम्यग्दर्शन है। जब सम्यग्दर्शन की ज्योति हृदय मे जगती है तब कषाय और विषयवासना-जन्य अन्धकार मन्द पड जाता है और शनै·-शनै· दूर भाग जाता है।

परमपूज्य श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेश मे कहा है कि "जैसे-जैसे ज्ञान मे उत्तम तत्त्व की प्रतीति होती है यानी सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय सुख भी रुचिकर नहीं लगते और जैसे-जैसे विषय रुचिकर नहीं लगते, वैसे-वैसे ज्ञानोपयोग मे तत्त्वो की प्रतीति होती है। तत्त्व-रुचि और विषयवासनाओ मे रुचि दोनो एक साथ नहीं रहती। अत: सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये कषायो का शमन और विषयवासनाओ का वमन करना चाहिए॥37॥

सम्यग्दर्शन ही परम हितैषी है

कषायातपतप्ताना, विषयामयमोहिनाम्।
सयोगायोगखिन्नाना, सम्यक्त्वं परम हितम्॥38॥

कषायरूपी आतप उष्णता से सन्तप्त, विषयरूपी रोग से मूर्च्छित और अनिष्ट सयोग एव इष्टवियोग से दुखित ससारी प्राणियो के लिये सम्यग्दर्शन ही परम हितकारी है।

जैसे ज्येष्ठमास के सूर्य की तीक्ष्ण किरणो से सतप्त प्राणियो के लिये दाह-विनाशक और शान्ति प्रदायक है शीतल जल मे अवगाहन करना, उसी

प्रकार कषाय रूपी आतप से सन्तप्त प्राणियो के लिये शान्तिदायक है—आत्मध्यान रूपी शीतल जल मे अवगाहन करना। सर्पादि के विष को दूर करने के लिये अमृत जड़ी का सेवन करना हितकारी है। वैसे ही विषय चाह रूपी विष से मूर्च्छित प्राणियो के विष को दूर करने मे अतीन्द्रिय आत्मानुभव रूप अमृत ही समर्थ है। इष्ट वनितादि के वियोग और प्रतिकूल चलने वाले शत्रु आदि अनिष्ट के सयोग से उत्पन्न आर्त्तध्यान से दु·खित-आकुलित प्राणियो के लिये शुद्धात्मा का मनन, चिन्तन ही हितकर है। आत्मध्यान, आत्मानुभव, आत्म चिन्तन-मनन सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। अत. विषयकषायो मे लीन, सासारिक दु.खो से पीडित प्राणियों के लिये परम हितकारी सम्यग्दर्शन ही है। इसीसे ससार वृक्ष की जड़ हिल जाती है, सारी आधियॉ-व्याधियॉ शान्त हो जाती हैं और आत्मिक सुख का विकास होता है ॥38 ॥

सम्यग्दर्शन के प्रति अनुराग

वर नरकवासोऽपि, सम्यक्त्वेन समायुत·।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य, निवासो दिवि राजते ॥39 ॥

सम्यग्दर्शन से विभूषित जीव का नरकवास भी अच्छा है और सम्यग्दर्शन से रहित का स्वर्ग मे रहना भी अच्छा नहीं है, हितकर नहीं है।

विषयभोगो से कभी तृप्ति नहीं होती, जैसे—ईधन डालने से अग्नि की ज्वाला शान्त नहीं होती। जैसे-जैसे उत्तमोत्तम मनोहर भोग प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे तृष्णा रूपी नागिन जहर के डक मारती है अर्थात् भोगो से तृष्णा शान्त नहीं होती अपितु अधिक बढती है। मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्ग मे जाकर मनोवाञ्छित भोगो को भोगता हुआ भी तृष्णा की चाह मे जलता रहता है, वह वहॉ भी निराकुल आत्मीय सुख का अनुभव नहीं कर सकता। अपितु तृष्णा एव कषायो के कारण कर्मों का बन्ध कर वह देव मर कर एकेन्द्रिय भी हो सकता है। बाह्य सुख-सामग्री होते हुए भी अन्तरग मे आर्त्त, रौद्र ध्यान की भट्टी मे जलता रहता है, अत: मिथ्यादर्शन सहित जीव का स्वर्ग मे जाना भी हितकर नहीं है।

पाप के उदय से नरक मे जाकर भी सम्यग्दृष्टि निज आत्मानुभवमय सुख का आस्वादन करने से सुखी रहता है। दारुण कर्मों का फल भोगता हुआ भी निरन्तर कर्मों की निर्जरा करता रहता है, वहाँ से निकल कर तीर्थंकर भी हो सकता है वा मनुष्य होकर मोक्ष मे जा सकता है। अत: सम्यग्दर्शन सहित नरकवास भी अच्छा है परन्तु सम्यग्दर्शनरहित स्वर्ग में जाना भी हितकर नहीं है।

सम्यग्दर्शन की महिमा अगम्य है। यदि एक ही बार अन्तमुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श हो जाये तो अर्धपुद्गल परावर्तन काल के भीतर यह जीव नियम से मोक्ष चला जाता है॥39॥

संसार-दु:ख का नाशक सम्यग्दर्शन

सम्यक्त्वं परमं रत्नं, शंकादिमलवर्जितम्।
ससारदु.ख-दारिद्र्य, नाशयेत्सुविनिश्चितम्॥40॥

शकादि मलो से रहित सम्यग्दर्शन रूपी परम रत्न सासारिक दु:ख रूपी दारिद्र्य का निश्चय से नाश कर देता है।

निर्दोष रत्न की प्राप्ति हो जाने से जैसे दारिद्र्य नष्ट हो जाता है और मानव धनवान बन जाता है, वैसे ही शंकादि दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के प्राप्त हो जाने से प्राणी सांसारिक दु.ख रूपी दरिद्रता से विमुक्त होकर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप सम्पदा को प्राप्त कर धनवान बन जाता है, कर्म-कर्ज से रहित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले शंका आदि आठ दोष हैं। जैसे सदोष दागी रत्न ऋण से मुक्त करने मे समर्थ नहीं, वैसे ही शंका आदि दोषों से मलिन सम्यग्दर्शन कर्म-कर्ज को नष्ट कर सांसारिक दु·ख दारिद्र्यं का नाश करने मे समर्थ नहीं हैं।

शका—जिनवचनो में विश्वास नहीं होना व आत्मतत्त्व के प्रति दृढ़ आस्था नहीं होना। काक्षा—सासारिक भोगो की वाञ्छा वा सासारिक सुख के लिए हिंसामय धर्म को प्राप्त करने की भावना। जुगुप्सा—रत्नत्रय से पवित्र परन्तु

स्वभाव से अशुचि मल-मूत्र की खान ऐसे रत्नत्रय के धारी मुनिगणों के शरीर से ग्लानि करना, वा भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि से पीडित होकर जिनधर्म से विमुख होना। अन्य दृष्टि प्रशसा सस्तव—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय से विमुख, कुमार्ग में स्थित मिथ्यादृष्टियों के प्रति मानसिक अनुराग और वचन से उनकी स्तुति करना।

अनुपगूहन—काम-क्रोध, मद-लोभ आदि विभाव भावो के कारण वा शारीरिक शक्ति के अभाव से जिनधर्म में दूषण लगाने वालों के दोषो का उद्‌घाटन करना, अपने आत्मीय गुणो के विकास का प्रयत्न नहीं करना। अस्थितिकरण—काम-क्रोधादिक के कारण न्यायमार्ग से च्युत अपने परिणामो का वा दर्शन और चारित्र से विचलित हुए साधर्मीजनों को सदुपदेश वा आत्मचिन्तन के द्वारा स्थिर नहीं करना। अवात्सल्य—अहिंसामय धर्म और धर्मात्माओं के प्रति अनुराग नहीं होना। अप्रभावना—रत्नत्रय रूपी तेज के द्वारा अपनी आत्मा का तथा दान, पूजा और विद्याओ के अतिशय के द्वारा जिनधर्म का उद्योत नहीं करना।

देव, गुरु और धर्म के विषय मे भ्रमपूर्ण या विपरीत धारणा बनाने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अज्ञानवश यह समझने मे असमर्थ रहता है कि आराध्य देव कैसा पावन पवित्र, सम्पूर्ण ज्ञानमय और सर्वथा निर्विकार वीतराग होना चाहिए। इस तथ्य को न समझने के कारण वह मिथ्यात्व के चक्कर मे फँस जाता है।

शास्त्र के ठीक अभिप्राय को न समझने के कारण अथवा कुशास्त्र के अध्ययन से शास्त्रीय मिथ्यात्व आता है, क्योकि सम्यग्दर्शन वा मिथ्यादर्शन की उत्पत्ति मे शास्त्र निमित्त कारण बनता है, इसी के कारण धर्म के विषय मे यथार्थ को समझे बिना परम्परागत धर्मविरुद्ध रुढियो को वा हिंसामार्ग को धर्म समझ लेता है।

असद् गुरु के कारण भी सम्यग्दर्शन मलिन होता है और ससार मे मिथ्यात्व का प्रचार होता है। गुरु के वास्तविकस्वरूप को समझे बिना ही भोला मानव वेष, चमत्कार वाक्पटुता को देख कर सग्रन्थ परिग्रहधारी को ही गुरु मान लेता है। इन कुगुरु कुदेव और कुधर्म की आराधना से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

कुगुरु-कुदेव-कुधर्म (कुशास्त्र) के समान उनके अनुयायियो की सगति, सराहना, प्रशसा आदि से भी सम्यग्दर्शन मे हानि होती है। अतएव कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके अनुयायियो को सम्यग्दर्शन के घातक छह अनायतन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले आठ मद भी हैं। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, शारीरिक शक्ति, ऋद्धि, और तपश्चरण का अभिमान करना, इनके कारण अपने स्वरूप को भूल जाना मद है, क्योकि ये भावनाये आत्मस्वरूप की घातक हैं इनसे भी सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

बिना विचारे कार्य करना मूढता है। वह मूढ़ता तीन प्रकार की है। देव के विषय मे विचार न करके रागी-द्वेषी को देव मानना, परिग्रह-आरम्भ-हिसा मे रत मानव को गुरु मानना और लौकिक देखा-देखी कार्य करना, नदी मे स्नानादि करने मे धर्म मानना मूढ़ता है। ये सम्यग्दर्शन के 25 दोष वा मल कहलाते हैं। इन मलो से रहित सम्यग्दर्शन निर्मल कहलाता है, निर्मल सम्यग्दर्शन सासारिक दु:खो का नाश कर देता है।

सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिये उसके आठ अग कहे है। जैसे अग के बिना अगी नहीं रहता, वैसे ही नि:शकितादि अगो के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

1 **नि:शकिताग**—वीतराग और सर्वज्ञ परमात्मा के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते अत वीतरागदेव के द्वारा कहा हुआ तत्त्व ही सत्य है। इस प्रकार सर्वज्ञ के वचनो पर दृढ श्रद्धा, प्रतीति होना। निर्भय हो सर्वज्ञकथित मार्ग पर चलना नि:शकित अग है।

2. **नि.कांक्षितांग**—किसी प्रकार के प्रलोभन मे पडकर परमत की अथवा सासारिक सुखो की वाञ्छा नहीं करना नि:काक्षित अग है।

3 **निर्विचिकित्सा**—रत्नत्रयधारी मुनिजनो के मलिन शरीर को देखकर उससे ग्लानि नहीं करना तथा भूख-प्यास से पीडित होकर जिनधर्म से पराड्मुख नहीं होना, ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अग है।

4 अमूढ़दृष्टि अंग—बिना विचारे कार्य नहीं करना कुपथ (हिसा आदि मार्ग) मे चलने वालों की मन-वचन-काय से प्रशसा, संस्तवन, कायिक विनय आदि नहीं करना अमूढदृष्टि अग है।

5. उपगूहन का उपवृंहण—अज्ञानता के कारण मूर्ख जनो के द्वारा किये गये दोषो का आच्छादन करना वा अपने आत्मीय धर्म की वृद्धि करना उपगूहन अग कहलाता है।

6. स्थितिकरण अंग—सासारिक कष्टो के कारण वा किसी प्रलोभन के वशीभूत होकर सम्यग्दर्शन एव सम्यक्चारित्र से च्युत होते हुए अपने परिणामो वा अन्य साधर्मियो को सदुपदेश के द्वारा पुनः स्थिर करने का प्रयत्न करना स्थितिकरण अग कहलाता है।

7. वात्सल्य अग—जिनधर्म और जिनधर्मधारियो के प्रति उसी प्रकार आन्तरिक स्नेह रखना, जैसे गाय अपने बछडे पर रखती है, वात्सल्य अग कहलाता है।

8 प्रभावनाग—अपनी शक्ति के अनुसार दान, तप, जिनपूजा करना-कराना वा विद्याओ के अतिशयो के द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना, जिनधर्म का प्रचार करना तथा अपनी आत्मा के कर्म मल को हटाकर निर्मल करने का प्रयत्न करना प्रभावनाग है।

जैसे अक्षरन्यून मत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है, वैसे ही अगहीन, मलो से दूषित सम्यग्दर्शन ससारसतति का छेद नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्यदेव ने कहा है कि शकादि मलरहित सम्यग्दर्शन ससार-दुःखो का नाश करता है-मल सहित नहीं।

सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ होता है, जब अन्तरग में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकाशमान होती है तो अनादिकालीन अन्धकार सहसा विलीन हो जाता है, समग्र तत्त्व अपने वास्तविक रूप मे उद्भासित होने लगते हैं, आत्मा के प्रति प्रगाढ रुचिका आर्विभाव होता है और सासारिक भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं, कर्मो की लड़ियाँ टूटने लगती हैं। आत्मा के जन्म मरण का दुःख दारिद्र्य दूर होने लगता है॥40॥

सम्यग्दृष्टि ही निर्वाण के योग्य बनता है

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य, ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य, ससारे भ्रमण सदा ॥41॥

सम्यग्दृष्टि जीव को ही निश्चय से निर्वाण की प्राप्ति होती है और मिथ्यादृष्टि जीव का निरन्तर ससार मे भ्रमण होता है।

जिसको यह दृढ निश्चय हो गया है कि मेरे विकार-भाव ही मुझे ससार मे भटकाने वाले हैं, ऐसा सम्यग्दृष्टि उन विकारो को दूर कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है, परन्तु जिसको स्व का भाव ही नहीं है, निरन्तर विषय-कषायों मे रचा-पचा रहता है, वह मिथ्यादृष्टि दु.खमय ससाराटवी मे भटकता रहता है ॥41॥

सदाचारी सम्यग्दृष्टि ही धर्मज्ञ है

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ, धर्मज्ञ प्रियदर्शन.।
य. सदाचारसम्पन्न , सम्यक्त्व-दृढमानस. ॥42॥

जो सम्यक्त्व मे दृढ मन वाला है और सदाचार-सम्पन्न है, वही पण्डित है, वही विनीत (विनयवान) है, वही धर्म के मर्म को जानने वाला है और वही प्रियदर्शन (प्रेम से देखने योग्य) है।

वही पण्डित अर्थात् भेदविज्ञानी है, वही आत्मतत्त्व का ज्ञाता है। वही विनयवान देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा भक्त है, जिनभक्त है। धर्म का ज्ञाता भी वही है तथा वही सत्पुरुष भक्तिपूर्वक दर्शन करने योग्य है जो सदाचार सम्पन्न है, श्रद्धा के अनुकूल मोक्षमार्ग मे चलने वाला है और तत्त्वो पर दृढ विश्वास करने वाला सम्यग्दृष्टि है। इसमे सदाचार-सम्पन्न सम्यग्दृष्टि को पण्डित कहा है, क्योकि सम्यग्दर्शन के योग्य सम्यक्त्वाचरण का पालन नहीं करने वाला पण्डित, धर्मज्ञ और सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता ॥42॥

वास्तविक वैद्य का लक्षण

जरामरण-रोगानां, सम्यक्त्वज्ञानभेषजै.।
शमन कुरुते यस्तु, स च वैद्यो विधीयते ॥43॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी औषधि के द्वारा जरा, (बुढापा) मरण आदि रोगो का शमन करता है, वही वैद्य कहा जाता है।

अनित्य, अशाश्वत, शरीर के रोगो का विनाश करने वाला, औषधि देकर रोगो को दूर करने वाला वास्तविक वैद्य नहीं है, भौतिक वैद्य है। यथार्थ मे, वास्तविक वैद्य वह है जो सम्यग्दर्शन से आलोकित सम्यग्ज्ञान रूपी औषधि का पान कर अनादि काल से लगे हुए अपने जन्म, जरा, मरण रूपी रोगों को दूर करता है। अन्य भव्य जीवों को भी आत्मज्ञान की औषधि पिला कर जन्म-मरण और जरा रोग को मिटाता है। सर्व रोगो मे भयकर रोग है जन्म-मरण और बुढापा इनके नाश करने की औषधि है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो रत्नत्रय रूपी औषधि का सेवन कर जन्म-मरण के रोग से मुक्त होता है, वही सत्यार्थ वैद्य है।

यद्यपि इस श्लोक मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का ही वर्णन किया है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र का वर्णन हो ही जाता है क्योकि सम्यग्दर्शन और ज्ञान की पर्यायो का स्थिर हो जाना ही चारित्र है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और ज्ञान का ज्ञान में स्थिर हो जाना ही चारित्र है। यही भव-रोगनाशक परमौषधि है ॥43 ॥

ज्ञान समान न आन जगत् मे सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।

क्या करना योग्य है

जन्मान्तरार्जित कर्म, सम्यक्त्वज्ञानसयमै:।
निराकर्त्तु सदा युक्तमपूर्वं च निरोधनम् ॥44 ॥

जन्मान्तर (भवान्तरो) मे उपार्जित किये हुए कर्मो को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयम (सम्यक्चारित्र) के द्वारा दूर करना और आगामी काल मे आने वाले कर्मो का निरोध करना ही सदा योग्य है।

अनादि काल से आत्मा के साथ बद्ध कर्मों का खिरा देना, पृथक् कर देना, जर्जरित कर देना निर्जरा है और आगामी काल मे आने वाले कर्मों का निरोध करना, कर्मों का आस्रव नहीं होने देना सवर है। अर्थात् नौका मे छिद्रो के द्वारा पानी का आना आस्रव है। छिद्र बन्द कर आते हुए पानी को (कर्मो

को) रोक देना सवर है परन्तु जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो ? उसे धीरे-धीरे उलीचना पडेगा। बस, आगत कर्मो को दूर करना यही निर्जरा है। कर्म-निर्जरा दो प्रकार की है—औपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तपश्चरण आदि विशिष्ट साधना से बलात् कर्मों को उदय में लाकर खिरा देना औपक्रमिक (अविपाक) निर्जरा है। अपनी स्थिति पूर्ण होने पर स्वत: कर्मों का उदय मे आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक (सविपाक) निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण होती रहती है, इस ससार मे आस्रव, बध और सविपाक निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से चलता आ रहा है, किन्तु जो भव्यात्मा सवर द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोक कर तपश्चरण द्वारा पुरातन कर्मो को क्षीण करती है, वह अन्त मे पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाती है।

मिथ्यात्व	=	विपरीत श्रद्धान।
अविरति	=	हिसा झूठ, चोरी, आदि पापो मे प्रवृत्ति।
प्रमाद	=	कुशल अनुष्ठान मे अनादर।
कषाय	=	क्रोध, मान, माया, लोभ।
योग	=	मन, वचन, काय की प्रवृत्ति।

ये सभी कर्मो के आने के कारण होने से आस्रव हैं। ये ही कर्म-प्रवेश के द्वार हैं।

आचार्यदेव ने कहा है कि जो मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) है उसको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा इन आस्रव-द्वारो का निरोध (सवर) कर पुरातन कर्मो की निर्जरा करना ही श्रेयस्कर है, क्योकि इससे निर्वाण का लाभ होता है॥44॥

मानव-भव की निरर्थकता

सम्यक्त्वं भावयेत्क्षिप्र, सज्ज्ञान चरण तथा।
कृच्छात्सुचरित प्राप्त, नृत्व याति निरर्थकम्॥45॥

शीघ्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना (आराधना) करनी चाहिए, अन्यथा बड़ी कठिनता से व उत्तम आचरण करने से प्राप्त यह मानव-जन्म व्यर्थ मे नष्ट होता जा रहा है।

अनन्त काल तो इस जीव ने एकेन्द्रिय का शरीर धारण कर निगोद मे व्यतीत किया। चिन्तामणि की प्राप्ति के समान त्रस पर्याय मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याय की प्राप्ति होना अति दुर्लभ हे। उससे भी दुर्लभ है मानव पर्याय, इन्द्रियो की पूर्णता, उत्तम कुल और जिनधर्म की प्राप्ति। पूर्वभव मे उपार्जित पुण्य से प्राप्त मानव-पर्याय को सार्थक करने के लिये शीघ्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए, अन्यथा इस मानव-जन्म की प्राप्ति निरर्थक है। मानव-जन्म की सार्थकता रत्नत्रय के धारण करने मे ही है, विषय-कषायो मे नष्ट करने मे नहीं ॥45 ॥

प्रयत्नपूर्वक चारित्र धारण कर

अतीतेनापि कालेन, यन्न प्राप्तं कदाचन
तदिदानी त्वया प्राप्त, सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥46 ॥
उत्तमे जन्मनि प्राप्ते, चारित्रं कुरु यत्नत.।
सद्धर्मे च परा भक्ति, शमे च परमा रतिम् ॥47 ॥

हे आत्मन् ! भूतकाल मे जिसे तूने कभी प्राप्त नहीं किया था, ऐसा यह उत्तम सम्यग्दर्शन तूने इस समय प्राप्त किया है और उत्तम मानव-जन्म भी तुझे प्राप्त हुआ है अत: इस जन्म को सार्थक करने के लिये तू यत्नपूर्वक चारित्र को धारण कर। सद्धर्म मे परम भक्ति और समता भाव मे परम प्रीति कर।

ससार-सागर से पार करने के लिये सम्यग्दर्शन ही खेवटिया है। हे आत्मन् ! ससार मे भटकते-भटकते तुझे अनन्तकाल हो गया, परन्तु आज तक तुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। इस समय तुझे बडे ही शुभ योग से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है और उसके साथ सयम का साधन उत्तम मानव-जन्म भी मिला है। क्योकि सम्यग्दर्शन के समान कोई उत्तम वस्तु नहीं और मानव पर्याय के समान कोई दूसरी सयम की साधनभूत पर्याय नहीं। अत· इस जन्म को सार्थक करने के लिये तू शीघ्र ही चारित्र धारण करने का प्रयत्न कर। रत्नत्रय रूप या आत्मस्वभाव रूप धर्म को ही सद्धर्म कहा है। अत· सद्धर्म में परम अनुराग, रुचि प्रतीति कर और सासारिक बन्धु-बान्धव एव विषय-वासनाओ की प्रीति को छोडकर शान्तभाव, समता रस व आत्मध्यान में प्रीति कर। यदि इस समय

प्रमाद किया तो यह सुअवसर फिर मिलना कठिन है, जैसे समुद्र में गिरी हुई रत्नकणिका का फिर मिलना कठिन है ॥46-47 ॥

दुःख का कारण

अनादिकालाज्जीवेन, प्राप्तं दुःखं पुनःपुनः।
मिथ्यामोहपरीतेन, कषायवशवर्तिना ॥48 ॥

अनादि काल से मिथ्यादर्शन एव मोह के सयोग से कषाय के वशीभूत हुए जीव ने बार-बार दुःख प्राप्त किये हैं।

संसार मे परिभ्रमण के कारण हैं मिथ्यादर्शन और कषाय। यह संसार अनादिकाल से है और जीव भी अनादि काल से है। मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव संसार-वास को ही अच्छा मानता आया है और विषयसुखो को सुख समझ कर उनमें आसक्त बनता रहता है। आज तक इसे अतीद्रिय सुख का भान भी नहीं हुआ और आत्मतत्त्व की प्रतीति भी नहीं हुई अतः मिथ्यादर्शन और कषायो से ससार में भ्रमण करता हुआ यह जीव बार-बार जन्म-मरण के असह्य दुःखो को भोगता रहा है ॥48 ॥

दुःखनाश का कारण

सम्यक्त्वादित्यसभिन्नं, कर्मध्वान्त विनश्यति।
आसन्नभव्यसत्त्वाना, काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥49 ॥

काल आदि लब्धियो का सन्निधान होने पर आसन्न भव्य जीवो का कर्म रूपी अन्धकार सम्यक्त्व रूपी सूर्य से छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ कारण हैं। इनमें चार लब्धियाँ तो समान हैं और करणलब्धि विशेष है, क्योंकि करणलब्धि के होने पर सम्यग्दर्शन अवश्य होता है। करणलब्धि के बल से मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय उपशमित होकर सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्रकट होता है, तब ही काललब्धि प्राप्त हुई, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि जिस समय जो काम हो वही उसकी काललब्धि है। यह काललब्धि निकट भव्यो को ही प्राप्त होती है, जिनका ससारवास शीघ्र छूटने वाला है, वे ही निकट भव्य हैं।

सम्यग्दर्शन के होते ही अनन्त ससार का नाश हो जाता है और पूर्वबद्ध कर्म भी ढीले पड़ जाते हैं। सम्यक्त्व के होते हुए आत्मानुभव की धूप जितनी-जितनी तेज होती है उतनी ही जल्दी शेष कर्मो का शोषण हो जाता है और यह आत्मा मुक्त हो जाती है ॥49 ॥

भवदु:ख का नाशक

सम्यक्त्वभावशुद्धेन, विषयासंगवर्जितः।
कषायविरतेनैव, भव-दु:खं विहन्यते ॥50 ॥

इन्द्रिय-विषयो की आसक्ति से रहित प्राणी सम्यग्दर्शन की शुद्धता और कषायों की विरक्तता से ससार के दु:खो का नाश कर देता है।

इस श्लोक मे आचार्यश्री ने संक्षेप मे सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और उससे होने वाले सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया है, क्योकि इन तीनो की एकता ही ससार-दु ख की विनाशक है और मुक्ति का सोपान है।

विषयो से पराड्मुख होने और कषायो के अभाव से सम्यक्चारित्र होता है और यह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन की शुद्धता से होता है। सम्यग्दृष्टि जीव के भाव नियम से आत्मरुचि वा अतीन्द्रिय सुख के प्यासे होते हैं, अतएव उसके भावो मे न विषयो की आसक्ति होती है, न कषायो की तीव्रता। वह आत्मानुभव का ध्यान करता है। कषायो के अश घटने से और विषयो से विरक्ति होने से पुरातन कर्मो की निर्जरा होती है तथा नवीन कर्मो का निरोध (सवर) होता है। अत. विषयविरक्ति, कषायो का अभाव और सम्यग्दर्शन की शुद्धि से ससार-दु:ख का विनाश होता है ॥50 ॥

सम्यक्त्व का नाश मत करो।

संसारध्वंसनं प्राप्य, सम्यक्त्व नाशयन्ति ये।
वमन्ति तेऽमृतं पीत्वा, सर्वव्याधिहरं पुनः ॥51 ॥

जो प्राणी ससारनाशक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर उसका नाश कर देते हैं, वा छोड़ देते हैं यानी मिथ्यात्वी हो जाते हैं वे मानो सर्वव्याधि-हरण करने वाले अमृत का पान कर फिर उसका वमन करते हैं।

सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही अनन्त ससार का उच्छेद हो जाता है, अत: सम्यग्दर्शन ससार के दु·खों का विनाशक है। इस अमृत का पान करने वाले के तृष्णा, क्रोध, मान, माया आदि विकार रोग नष्ट हो जाते हैं। विषयवासना के विष का शमन कर परमानन्द रूप आत्मध्यान का स्वाद दिलाने वाले ऐसे अमूल्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर जो जीव-विषय-कषाय के कुपथ मे लग जाता है, सयम और शुद्ध ज्ञान के अभ्यास से सम्यग्दर्शन रूपी रत्न की रक्षा नहीं करता है, अपितु विपरीत कारणो से उसे छोड देता है, वह मानो सर्वव्याधिहर अमृत को पीकर भी उसका वमन करता है ॥51 ॥

मिथ्यात्व संसार का बीज है

मिथ्यात्वं परमं बीजं, संसारस्य दुरात्मन·।
तस्मात्तदेव मोक्तव्य, मोक्षसौख्य जिघृक्षुणा ॥52 ॥

इस दुष्ट दु.खमयी ससार का परम बीज है मिथ्यादर्शन-इसलिए मोक्षसुख के इच्छुक मनुष्य को मिथ्यादर्शन का त्याग करना चाहिए।

जब आत्मा मे यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोध के स्थान पर अयथार्थ आग्रह से एकान्तता का अभिनिवेश तथा पक्षान्धता आदि दुर्गुणो का समावेश होता है, उस समय जीव की स्थिति मिथ्यात्व रूप होती है, तब वह मिथ्यात्वी कहलाता है।

जगत् मे जो सत् है, उसका कभी विनाश नहीं होता है। और न अमृत का उत्पाद ही होता है। जितने भी मौलिक द्रव्य इस लोक मे हैं, वे सब अपने-अपने मूल स्वरूप मे स्थिर रहते हैं। किसी भी काल मे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो सकता है किन्तु सभी द्रव्य अपनी अनादिकालीन पर्याय-धारा मे प्रवाहित होते हैं। प्रत्येक द्रव्य का प्रतिक्षण रूपान्तरण होता है परन्तु द्रव्यान्तर नहीं होता। द्रव्यो के इस स्वभाव की तथा देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप की प्रतीति नहीं होना, उसके सत्य स्वरूप को नहीं समझना ही मिथ्यात्व है। इस कारण ही कषायो मे रुचि होती है और इन्द्रियसुखो मे सुख का आभास होता है तथा शरीर मे आत्मबुद्धि होती है। ऐसा होने पर यह जीव कर्मो का संचय करता है। और ससार मे भटकता है। यह मिथ्यात्व ही ससार का मूल कारण है।

कुशासनों से विप्रलुब्ध होने का कारण

आत्मतत्त्वं न जानन्ति, मिथ्यामोहेन मोहिताः।
मनुजा येन मानस्था., विप्रलुब्धाः कुशासनैः ॥53॥

मिथ्यात्व से मोहित हुए मानव आत्म-तत्त्व को नहीं जानते हैं और आत्म-तत्त्व के ज्ञान के अभाव के कारण वे अहकारी मानव कुशासनो (मिथ्योपदेश) के द्वारा विप्रलुब्ध हो जाते हैं यानी प्रतारित हो जाते हैं, ठगे जाते हैं।

मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं—अगृहीत और गृहीत। अनादिकाल से जो अतत्त्व रुचि है, शरीर मे आत्मबुद्धि है, वह अगृहीत मिथ्यात्व है, जिससे एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सारे जीव आक्रान्त हैं। कोई पचेन्द्रिय संज्ञी जीव खोटे शासन यानी मिथ्या उपदेश के द्वारा विमोहित होकर अज्ञानी, अतत्त्व-श्रद्धानी बन जाता है, वह गृहीत मिथ्यात्व है। आचार्यदेव ने इस श्लोक में, अनादि से आत्मा को नहीं जानना अगृहीत मिथ्यात्व है और कुशासन से विप्रलुब्ध होना गृहीत मिथ्यात्व है, इस तथ्य को सूचित किया है।

जैसे पित्तज्वर वाले को मधुर दूध कटु लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव को आत्महित की बात कटु लगती है। उसको शुद्धात्मा का भाव नहीं होता ॥53॥

4. धर्माचरण की प्रेरणा

मोह का परिणाम

दुःखस्य भीरवोऽप्येते, सद्धर्मं न हि कुर्वते।
कर्मणा मोहनीयेन, मोहिता बहवो जनाः ॥54॥

दुःखो से भयभीत भी ये बहुत से ससारी जन मोहनीय कर्म से मोहित होकर सद्धर्म का आचरण नहीं करते हैं।

सारे ससारी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत हैं परन्तु सुख के कारणों मे प्रवृत्ति नहीं करते हैं और दुःख के कारणो को छोडते भी नहीं हैं। वे मोहनीय कर्म से मोहित होकर अधर्म, हिसा, झूठ चोरी, कुशील एव

परिग्रह-अर्जन रूप पापो मे प्रवृत्ति कर दु:खी होते हैं। जैसे—रोग-नाशक औषधि का पान किये बिना व्याधि नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार सद्धर्माचरण के बिना ससार-रोग नष्ट नहीं होता, परन्तु ये मूर्ख प्राणी सब कुछ जानते हुए भी धर्म का आचरण नहीं करते हैं ॥54 ॥

मिथ्यादृष्टि की धर्माचरण में रुचि नहीं होती

कथं न रमते चित्तं, धर्मे चैकसुखप्रदे।
देवाना दु:खभीरूणा, प्रायो मिथ्यादृशो यत: ॥55 ॥

दु:खो से भयभीत देवो का चित्त सुखप्रद धर्म मे क्यो नहीं रमण करता है, क्योकि वे बहुधा मिथ्यादृष्टि होते हैं।

मानवो को साधारणतया अवधिज्ञान नहीं होता है, वे पूर्व वा आगामी भव को नहीं जानते हैं, परन्तु देवो को तो नियम से अवधिज्ञान होता है। वे पुण्य-पाप के फल को प्रत्यक्ष जान भी सकते हैं, तथापि मिथ्यात्व से मोहित होने के कारण वे आत्मकल्याण के लिये अवधिज्ञान का उपयोग नहीं करते हैं, दिन रात विषयो की तृष्णा मे ही झुलसते रहते हैं। धर्माचरण मे उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। अत: मिथ्यात्व एक तीव्रतर मदिरा है जिसको पीकर प्राणी सासारिक सुखो मे अचेत हो जाते हैं। ॥55 ॥

कर्मनाश का कारण-धर्माचरण

दु·ख न शक्यते सोढु, पूर्वकर्मार्जित नरै.।
तस्मात् कुरुत सद्धर्म, येन तत्कर्म नश्यति ॥56 ॥

यदि मानव पूर्व कर्म के उदय से प्राप्त दु.खो को सहन करने मे समर्थ नहीं है तो उसे सद्धर्म का आचरण करना चाहिए जिससे पूर्वोपार्जित कर्म का नाश हो जायेगा।

सासारिक दु:खों का मूल निमित्त कारण है—स्वकीय उपार्जित कर्म। उन कर्मो के असह्य दु:खो को सहन करने मे यदि हे आत्मन् ! तू असमर्थ है तो तू रत्नत्रय स्वरूप धर्म को स्वीकार कर, क्योकि रत्नत्रय की आराधना से सत्ता मे

स्थित पाप कर्म भी पुण्य रूप सक्रमित हो जाते हैं अर्थात् असाता साता रूप परिणमन कर जाती है वा कर्म अत्यन्त क्षीण होकर क्षय हो जाते हैं। और अतिशयकारी (पुण्यानुबन्धी) पुण्यबन्ध होता है। जैसे अयोग्य खान-पान से उत्पन्न हुआ रोग यथार्थ औषधि सेवन करने से सर्वथा मिट जाता है या बहुत कम हो जाता है। अतः सासारिक दुःखो का नाश करने के लिये धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥56॥

दुष्कर्मों का नाशक सुकृत

सुकृत तु भवेद्यस्य, तेन यान्ति परिक्षयम्।
दुःखोत्पादनभूतानि, दुष्कर्माणि समन्ततः ॥57॥

जिसके पुण्य होता है, वा जो पुण्य के कार्य करता है, उसके उस पुण्य से वा धार्मिक भावो से चारो तरफ से दुःखो को उत्पन्न करने वाले दुष्कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

जो मानव निरन्तर दान, पूजा, सयम तथा आत्मध्यान रूप धार्मिक कार्यो मे लीन रहता है, उसके निकाचित कर्मबध भी टूट जाते हैं। जिस प्रकार चन्दन की डाली पर मयूर के आ जाने पर सर्प चन्दन वृक्ष को छोडकर भाग जाते हैं, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से असाता होने वाली हो वे कर्म जिनभक्ति से जीर्ण-शीर्ण होकर झड़ जाते हैं। इसलिए निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिए ॥57॥

धर्माचरण करने की प्रेरणा।

धर्म एव सदा कार्यो, मुक्त्वा व्यापारमन्यतः।
यः करोति पर सौख्यं, यावन्निर्वाणसंगमः ॥58॥

दूसरे कार्यों को मन-वचन-काय रूप से छोड़कर सदा धार्मिक कार्य करना योग्य है, क्योकि यह धर्म जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक परम सुख प्रदान करता रहता है।

अपने वर्तमान और भविष्य को भी सुखद, सन्तोषमय और क्लेश रहित बनाने का उपाय है-पवित्र जिनधर्म का आचरण। वह आचरण श्रावक और मुनि के आचरण के भेद से दो प्रकार का है। श्रावक और साधु दोनों ही मुमुक्षु

होते हैं, दोनो ही आत्म-शुद्धि के पथ के पथिक होते हैं। दोनों का उद्देश्य मुक्तिलाभ करना है। दोनों ही सयम की साधना मे निरत रहते हैं और पाप से बचने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी दोनो की परिस्थितियों में अन्तर है। साधु आरम्भ परिग्रह और पाप कृत्यो के सर्वथा त्यागी होते हैं किन्तु श्रावक गृहस्थावस्था मे रहने के कारण आरम्भ एव परिग्रह का सर्वथा तो त्याग नहीं कर सकता है तथापि महारम्भ और महापरिग्रहधारी बनकर नरक मे जाना भी उसे इष्ट नहीं अतः वह अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही रहकर अपना और अपने परिवार का निर्वाह करता है। वह अपनी असीम तृष्णा पर अकुश लगाने के लिये भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा कर लेता है और निरर्थक सग्रह का भी त्याग कर देता है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत श्रावक के ये 12 व्रत होते हैं।

1 अहिसाणुव्रत—स्थूल प्राणातिपात-सकल्पपूर्वक त्रस जीवो के घात का त्याग।

2 सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना अर्थात् तीन लोक मे निन्दनीय और राजदण्डनीय असत्य नहीं बोलना।

3 अचौर्याणुव्रत—मन-वचन-काय से किसी की सम्पत्ति को स्वामी की आज्ञा बिना नहीं लेना। स्थूल चोरी का अर्थ है जिस चोरी के कारण मनुष्य न्यायालय में दण्डित और लोक मे निन्दनीय होता है।

4 ब्रह्मचर्याणुव्रत—काम-भोग एक प्रकार का मानसिक रोग है। उसका प्रतिकार भोग से नहीं हो सकता। यह समझकर मानसिक शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिये स्त्री सम्भोग से सर्वथा विरत होना ब्रह्मचर्य व्रत है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकता उसे परस्त्री का त्याग तो अवश्यमेव करना चाहिए। इस प्रकार परस्त्री-त्याग और स्वस्त्री-सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

5 परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्यादि परिग्रहो का परिमाण कर लेना। सब परिग्रह मूर्च्छा की देन हैं। जब तक मनुष्य के जीवन मे अमर्यादित लोभ, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। अतएव परिग्रह की सीमा कर लेना आवश्यक है।

जिनसे अणुव्रतों की संपुष्टि, वृद्धि और रक्षा होती है, उनको **गुणव्रत** कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं–

6. **दिग्व्रत**—समस्त दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा करना और उसके बाहर सब प्रकार के व्यापारो का त्याग करना। मनुष्य की अभिलाषा आकाश की भाँति असीम और अग्नि की तरह सारे भूमण्डल पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का मधुर स्वप्न ही नहीं देखती वरन् उस स्वप्न को साकार करने के लिये विजय अभियान भी करती है। इस तृष्णा और लोभ पर अकुश लगाने के लिये दिग्व्रत की आवश्यकता है।

7 **भोगोपभोगपरिमाण व्रत**—एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं, जिन्हे पुनः पुनः भोगा जा सके ऐसे वस्त्र पात्र आदि को उपभोग कहते हैं, विषयभोगो की लोलपुता पर नियंत्रण करने के लिये भोगोपभोग परिमाण व्रत की आवश्यकता है।

8. **अनर्थदण्डविरतिव्रत**—बिना प्रयोजन मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं करना अनर्थदण्डविरति व्रत है। विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति पाँच प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करती है। **पापोपदेश**-पापजनक कार्यों का उपदेश देना। अर्थात् जिन कार्यो से प्राणियो का वध होता हो ऐसे कार्यों का परामर्श व उपदेश देना। **हिंसादान**-हिसा के साधन-तलवार, आदि का निर्माण करके दूसरो को देना, सहारक शस्त्रो का अविष्कार करना। **दुःश्रुति**—काम, क्रोध आदि विकारी भावों के उत्पादन कराने वाले काम-शास्त्रादि का पठन-पाठन करना। **अपध्यान**—राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के धन-धान्य स्त्री आदि के नाश का चिन्तवन करना। प्रमादचर्या—निष्प्रयोजन अग्नि जलाना, पानी गिराना, पर्यटन करना-कराना, जमीन खोदना आदि।

ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के भेद है।

पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रतो को साकार करने के लिये तथा मुनिव्रतों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये जिनका पालन किया जाता है उनको **शिक्षाव्रत** कहते हैं।

9. सामायिकव्रत—राग-द्वेषमय विषम भाव रूप परिणति को दूर कर समभाव स्थापित करना तथा चार कायोत्सर्ग, 12 आवर्त्त, दो नमस्कार और चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति का पाठ करते हुए त्रिकाल देव-वन्दना करना। इस व्रत की आराधना का काल 48 मिनट है। इसकाल में गृहस्थ सारे आरम्भ एव परिग्रह का त्याग कर आत्मचिन्तन करता है।

10. देशावकाशिकव्रत—दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिये किये गये दिशाओं के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिये कम करना और उस परिमाण से बाहर सारे पाप-कार्यों का त्याग करना।

11. प्रोषधव्रत—प्रोषध का अर्थ है—अष्टमी, चतुर्दशी पर्व के दिन उपवास करना वा प्रोषध का अर्थ है एकभुक्ति-अर्थात् पर्व के दिन एकासन (एकाशन) करना। सप्तमी और त्रयोदशी के मध्याह्नकाल से लेकर नवमी एवं पूर्णिमा के मध्याह्न काल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्त्वचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय मे समय व्यतीत करना। यह उत्तम विधि है, अपनी शक्ति के अनुसार मध्यम वा जघन्य भी कर सकते हैं।

12. अतिथिसंविभाग व्रत—जिनके आने का समय नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधु पहले सूचना दिये बिना आते हैं। उन्हें संयमोपयोगी आहार आदि का दान करना।

इन 12 व्रतो का पालन करना श्रावकाचार वा श्रावक का चारित्र कहलाता है। इन बारह व्रतो का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति होती है।

जिसको तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोगों को रोग और इन्द्रिय-विषयो एवं कषायों को विष के समान समझता है तथा जिसके मानस-सर मे वैराग्य की ऊर्मियाँ लहराने लगी हैं, ऐसे मानव द्वारा पंचमहाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना मुनि का चारित्र कहलाता है।

जीवन पर्यन्त त्रस और स्थावर सभी जीवों की मन, वचन, काय से हिसा न करना, दूसरो से न कराना और हिसा करने वाले की अनुमोदना नहीं करना **अहिंसा महाव्रत** है।

मन, वचन, काय से असत्य नहीं बोलना, न दूसरों से बुलवाना और न असत्यभाषी की अनुमोदना (सराहना) करना **सत्य महाव्रत** है।

सचेतन, अचेतन परिग्रह वा किसी के शिष्य आदि को उसकी आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करना **अचौर्य महाव्रत** है।

मन, वचन, काय से ब्रह्मचर्य व्रत का पालना, स्त्री मात्र के सेवन का त्यागकर कामवृत्ति और वासना का नियमन कर अपनी आत्मा में रमण करना **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

धन, धान्यादि सर्वबाह्य परिग्रहो और मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करना, पूर्ण अनासक्त, अममत्व और अपरिग्रहवान होना **अपरिग्रह महाव्रत** है।

पापों से बचने के लिये मन की प्रशस्त एकाग्रता, समीचीन प्रमाद रहित प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। प्रवृत्ति पाँच प्रकार की होती है-चलना, बोलना, खाना-पीना, वस्तु को उठाना-रखना, और मलमूत्र करना। इन प्रवृत्तियो मे सावधानी रखना पाँच समिति हैं। जीवो की रक्षा के लिये, सावधानी के साथ चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना **ईर्या समिति** है। शास्त्रोक्त विधि से हित मित प्रिय सत्य बचन बोलना **भाषा समिति** है। छियालीस दोष टालकर, निर्दोष, शुद्ध, वीतराग-प्रणीत शास्त्र विहित आहार ग्रहण करना **एषणा समिति** है। किसी भी वस्तु को सावधानी पूर्वक उठाना या रखना जिससे किसी जीव का घात न हो उसे **आदान निक्षेपण समिति** कहते हैं। **व्युत्सर्ग समिति** का अर्थ है, मलमूत्र आदि को ऐसे स्थान में विसर्जित करना जहाँ जीव-जन्तु न हो तथा किसी को घृणा न हो।

इन्द्रिय और मन का गोपन करना वा मन-वचन-काय को असत्य प्रवृत्ति से हटाकर आत्माभिमुख कर लेना गुप्ति है। इसके तीन भेद इस प्रकार हैं—असद्विकल्पों से मन को रोकना आर्त्तरौद्र ध्यान मे मन को नहीं जाने देना **मनोगुप्ति** है। असत्य, कटु, कर्कश वचनो में प्रवृत्ति नहीं करना वा मौन धारण करना **वचन गुप्ति** है। काय के व्यापार को रोकना **कायगुप्ति** है।

इस प्रकार तेरह भेद रूप मुनिजनो का चारित्र है। श्रावक और मुनिजनो के चारित्र को धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को भी

धर्म कहा है। इस प्रकार जो मानव, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित माया, मिथ्या, निदानरूप तीन शल्य रहित चारित्र रूप धर्म का पालन करता है, वह कर्म रूपी पर्वत को चूर-चूर कर देता है, शारीरिक, मानसिक कष्टो से दूर रहता है, इन्द्र पद आदि उत्तमोत्तम सांसारिक सुखों का उपभोग कर निर्वाण को प्राप्त करता है। अतः सासारिक कार्यों को छोडकर हमेशा चारित्र रूप वा वस्तु स्वभाव रूप धर्म का निरन्तर आचरण करना चाहिए ॥58 ॥

कषाय और इन्द्रिय चोर

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते, सद्धर्म परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये, कषायेन्द्रियतस्करैः ॥59 ॥

सद्धर्म के आचरण बिना एक क्षण भी वृथा चले जाने पर मैं मानता हूँ कि मैं कषाय और इन्द्रिय-विषयरूपी चोरो से ठगा गया।

निरन्तर अपने मन को धार्मिक क्रियाओ में व सयम की साधना मे लगाए रखना चाहिए, जिससे विषय-वासना और कषाय रूपी दुष्ट चोर आत्म-निधि को चुरा नहीं सके। खाली मन शैतान का घर होता है अत॰ मन के इधर-उधर भटकते ही विषय-वासना और कषाय मन मे प्रवेश कर जाते हैं और आत्मा उनके प्रभाव से अपने स्वरूप को भूलकर उनके आधीन हो जाता है। अत निरन्तर अपने मन को स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन, पठन-पाठन मे व्यस्त रखना चाहिए। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए ॥59 ॥

संयम बिना जीवन व्यतीत करने से पश्चाताप होता है।

धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढ तव।
आयुः कर्मणि क्षीणे, संपश्चात्त्व किं करिष्यसि ॥60 ॥

हे आत्मन्! जब तक तेरी आयु दृढ है तब तक धर्म कार्य मे बुद्धि लगानी चाहिए। आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर पीछे तू क्या करेगा ?

आयुकर्म के सर्वथा क्षय होकर समय पर निषेक गल जाने पर ही मृत्यु होती है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है क्योकि कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यचो का अकालमरण भी हो सकता है।

औपपादिक जन्म वाले (देव-नारकी), चरम शरीरी और असख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यंचों का अकाल-मरण नहीं होता, शेष जीवों की भुज्यमान आयु का उत्कर्ष तो नहीं होता परन्तु अपकर्षण हो सकता है। गोम्मटसार में लिखा है कि विषभक्षण, रक्तक्षय, वेदना, भय, आहारपानी, का निरोध और श्वासोच्छ्वास का रुकना आदि कारणों से आयु का ह्रास होता है और कदलीघात (अकाल) मरण होता है।

श्लोकवार्त्तिक में आचार्य श्री विद्यानन्दी आचार्य ने लिखा है कि यदि अकालमरण नहीं है तो चिकित्साशास्त्र का वर्णन क्यो किया जाता है। प्राणावाय नामक पूर्व मे सारी चिकित्साओ का ही वर्णन है। अत: बाहरी प्रतिकूल कारणो के होने पर अकाल मे ही आयु कर्म की उदीरणा हो जाती है, स्थिति पूरी किये बिना ही किसी कारण विशेष से स्थिति घट कर आयुकर्म की वर्गणाये खिर जाती हैं और असमय मे भी मरण हो सकता है। भरोसा नहीं है-किस समय मृत्यु उपस्थित हो जाय अत: निरन्तर धर्म कार्यों मे वा सयम धारण करने में तत्पर रहना चाहिए। एक क्षण भी सयम के बिना न बिताएँ, "सयम विन घडिय मे इक्क जाहु।" अन्यथा अन्त मे पश्चात्ताप करना पडेगा। अर्थात् असयम के कारण मर कर दुर्गति मे जाना पड़ेगा ॥60॥

जीवन की सार्थकता

धर्ममाचर यत्नेन, मा भवस्त्व मृतोपमः।
सद्धर्मं चेतसा पुसा, जीवितं सफलं भवेत्॥61॥

हे आत्मन्! तू यत्नपूर्वक सद्धर्म का आचरण कर। धर्म को छोडकरमरे हुए प्राणी के समान मत हो। सद्धर्म का अनुभव करने वाले जीव का ही जीवन सफल होता है।

इस दुर्लभ मानव-जीवन की सफलता धर्म के आचरण से ही होती है। धर्म के प्रताप से मानव इस भव मे सुयशस्वी, सुखी और परलोक मे सद्गति को प्राप्त होता है। धर्माचरण से विहीन मानव जीता हुआ भी मरे हुए के समान है। वह पापाचरण से इस लोक मे निन्दनीय, दण्डनीय बनता है और पापो का सचय कर परलोक में दुर्गति मे जाता है। इसलिये विवेकी मानव का कर्त्तव्य है

कि जब तक आयुकर्म है तब तक विषय वासनाओ से पराङ्मुख होकर वह कषाय भटो पर विजय प्राप्त करने के लिये सयम रूप धर्म की साधना कर अपने जीवन को सफल करे ॥61 ॥

जीवित कौन है ? मरा हुआ कौन है ?

मृता नैव मृतास्ते तु, ये नराः धर्मकारिणः।
जीवन्तोऽपि मृतास्ते वै, ये नराः पापकारिणः ॥62 ॥

जो मानव धर्माचरण करने वाले हैं, यदि वे मर जावे तो भी वे मरे नहीं हैं, परन्तु जो मानव पाप करने वाले हैं, वे जीते हुए भी मरे हुए हैं।

जिन मानवों का जीवन सयम, तप, स्वाध्याय, आत्मध्यान जिनगुण-चिन्तन आदि क्रियाओ मे बीतता है, वे इस लोक मे सुखी होते हैं और भविष्य मे या तो कर्मों का नाश कर मुक्तिरमा के पति बन जाते हैं अथवा इन्द्र पद, चक्रवर्ती पद आदि उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं अतः ऐसे प्राणी इस भौतिक शरीर से छूट जाने पर भी जीवित हैं परन्तु जो पापाचारी हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह तथा व्यसनों आदि मे फँसे रहते हैं वे जब तक जीवित रहते हैं तब तक पाप उपार्जन करते रहते हैं और मर कर पाप के फल को भोगने के लिये नरकादि दुर्गतियो मे जाते हैं अतः ऐसे प्राणी जीवित रहकर भी मरे हुए के समान ही हैं। अतः निरन्तर धर्म का आचरण कर अपने जीवन को सफल बनाना चाहिये।

परम सुख का कारण

धर्मामृत सदा पेयं, दुःखातक-विनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं, जीवानां जायते सदा ॥63 ॥

दुःख रूपी रोगों के विनाश करने वाले धर्मामृत का सदा पान करना चाहिए, क्योंकि धर्मामृत का पान करने पर जीवों को अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है।

जन्म, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि के अनेक दुःख रूपी खारे जल से भरे इस संसार समुद्र मे पड़े हुए, प्राणियो को शांतिदायक वा संसार

से निकाल कर उत्तम स्थान में पहुँचाने वाला धर्म ही है। अतः विषयवासना रूपी खारे जल से सन्तापित पुरुषों के ताप को दूर कर उन्हें सन्तुष्ट करने वाले धर्माचरण ही सर्वोत्कृष्ट हैं। सासारिक रोगों का नाश करने के लिये धर्म ही परमौषधि है। यही आत्मा को अजर अमर बनाता है। अतः सासारिक दु:खो से छुटकारा पाने के लिये स्वाध्याय, आत्मचिन्तन आदि धार्मिक क्रियाओ के द्वारा धर्मामृत का पान कर अविनाशी सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए॥63॥

5. धर्म सुखकारी व तारक है

धर्म का स्वरूप

स धर्मो यो दयायुक्तः, सर्वप्राणिहितप्रदः।
स एवोत्तारणे शक्यो, भवाम्बुधौ सुदुस्तरे॥64॥

जो दयाभाव से युक्त है, वही सर्व प्राणियों का हित करने वाला धर्म है, और वही अत्यन्त कठिनता से पार करने योग्य ससार समुद्र से पार करने में समर्थ है।

जो जीवो को ससार के दु:खो से निकाल कर उत्तम सुख मे पहुँचाता है, वही धर्म है। उस धर्म की जड है दया "धर्मस्य मूल दया" यह आचार्यो का वाक्य है। दया का ही दूसरा नाम अहिंसा है। अहिसा ही परम धर्म है। अहिंसा रूप धर्म मे रत्नत्रय, चारित्र, अनुकम्पा आदि सर्व धर्मों का समावेश होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिसैतत्।' आत्मपरिणामों के घात का कारण होने से झूठ, चोरी आदि सर्व पाप हिसा रूप हैं। केवल बाल शिष्यों को समझाने के लिये असत्य आदि पापो का वर्णन किया है तथा श्रावक एव मुनिजनों की जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब अहिंसा रूप हैं इसीलिए कहा गया है—"सर्वसावद्ययोगनिर्वृत्ति" सामायिक चारित्र है। अतः सर्व प्राणियों पर मैत्री भाव रखना, किसी जीव को मन, वचन, काय से दु:ख नहीं देना पर-दया है तथा आत्मस्वरूप के घातक कषाय परिणाम नहीं करना स्व दया है। सर्व प्राणियों की हितकारक यह दया ही है। इस दया के कारण ही सर्व जीवो में मैत्री भाव जाग उठता है, द्वेष भाव विलीन हो जाता है।

कषाय वा रागद्वेष भावो के विलीन होनेसे कर्म-लड़ियाँ टूटने लगती हैं। अतः ज्ञानभावना के द्वारा रागद्वेष को हटाकर अहिंसामय धर्म को स्वीकार करना चाहिए। यह धर्म ससारी प्राणियों का रक्षक है।

धर्म को नहीं छोड़ने का आदेश

यदा कण्ठगतप्राणो, जीवोऽसौ परिवर्तते।
नान्यः कश्चित्तदा त्राता, मुक्त्वा धर्मं जिनोदितम् ॥65॥

जब यह जीव मरण के सम्मुख होता हुआ, इस शरीर को छोडकर दूसरे मे जाता है, तब जिनेन्द्रकथित धर्म को छोडकर इसका दूसरा कोई रक्षक नहीं है।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप आत्मानुभव धर्म है। आत्मानुभव के साधन रूप जो व्यवहार वा शुभोपयोग है वह भी धर्म है।

धन, सम्पदा, पुत्र-पौत्रादिक कोई भी परलोक मे साथ मे जाने वाला नहीं है। यह उत्तम क्षमादि वा रत्नत्रय रूप धर्म ही आत्मा का स्वभाव होने से परलोक मे साथ जाता है, यही आत्मा का रक्षक है। यह धर्म ही तीव्र पाप कर्म के उदय से पीड़ित प्राणियों को ससार के दुःखो से निकाल कर उत्तम सुख मे पहुँचाता है। अत· वीतरागदेव कथित धर्म ही मगल है, यही उत्तम है और यही शरण है। इसके समान आत्मा का दूसरा कोई परमोपकारी नहीं है ॥65॥

मृत्यु का समय नही जाना जाता

अल्पायुषा नरेणेह, धर्मकर्मविजानता।
न ज्ञायते कदा मृत्युर्भविष्यति न संशयः ॥66॥

धर्म-कर्म के ज्ञाता, अल्प आयुष्क मनुष्य के द्वारा यह नहीं जाना जाता है कि मृत्यु कब आयेगी। इसमे सशय नहीं है।

कर्मभूमि के मनुष्यो का अकालमरण भी हो सकता है, अतः मरण के समय का निश्चय करना अतिदुर्लभ है। निरन्तर यह चिन्तन चलना चाहिए कि मृत्यु सामने खड़ी है, यह नहीं जाना जाता कि किस समय प्राण-पखेरू उड़ जायेगे। अतः धर्म के कार्यों मे प्रतिक्षण सलग्न रहना चाहिए। एक क्षण भी

व्यर्थ नहीं खोना चाहिए और ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि अभी तो युवावस्था है, वृद्धावस्था आने पर सयमपालन, दान, जिनपूजा, तप, आदि धार्मिक कार्य करेंगे, क्योंकि एक क्षण का भी भरोसा नहीं है, कब श्वासोच्छ्वास रुक जायेगा और इच्छा न होते हुए भी इस शरीर एवं धन, परिजन-पुरजन को छोड़ कँर परलोक (दूसरी गति) मे जाना पड़ेगा। पुत्र, पौत्र, वैभव और कुटुम्बी जन बचाने के लिये समर्थ नहीं होगे ॥66॥

निमित्तान्तर से मृत्यु

आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः, परिज्ञाते हितान्तके।
तस्यापि क्षीयते सद्यो, निमित्तान्तरयोगतः ॥67॥

जिस किसी की भी आयु निमित्तज्ञानियों के द्वारा, हित रूप वा अहित रूप नष्ट होगी वा इस समय पर पूर्ण होगी, ऐसा जान लेने पर भी उसकी आयु का किसी निमित्तान्तर के सयोग से शीघ्र ही क्षय हो जाता है।

कोई निमित्तज्ञानी बता देते हैं कि इसका मरण इस समय होगा, तो भी उनका कथन सर्वथा सत्य नहीं निकलता, क्योकि ससार में असाध्य रोग, अग्निप्रकोप, जलप्रवाह, विषभक्षण, शस्त्रप्रहार आदि कारणो के अकस्मात् उपस्थित हो जाने पर शीघ्र ही आयुकर्म के पौद्गलिक निषेक उदीरणा रूप होकर झड जाते हैं अतः अकालमरण भी हो सकता है, जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि भर जल सकता है परन्तु किसी कारण से उसका तेल नीचे गिर जाये वा बहुत जोर से वायु का झोका लग जाये तो दीपक असमय मे भी बुझ सकता है, वैसे ही किसी कारणवश आयुकर्म के निषेक अकाल मे भी उदीरण हो जाते हैं। अतः जीवन की क्षणभगुरता जानकर निरन्तर धार्मिक कार्यों मे प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥67॥

जन्म की निरर्थकता

जिनैर्निगदितं धर्म, सर्वसौख्यमहानिधिम्।
ये न तं प्रतिपद्यन्ते, तेषां जन्म निरर्थकम् ॥68॥

जिनेन्द्र भगवान ने धर्म को सर्व सुख की महानिधि कहा है। सर्वज्ञप्रणीत इस धर्म को जो धारण नहीं करते हैं, उनका जन्म निरर्थक (निष्फल) है।

सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ने जिस रत्नत्रय रूप वस्तु स्वभाव धर्म का निरूपण किया है, वह धर्म ही सर्व सुख का भण्डार है। इस धर्म के प्रभाव से ही अभ्युदय (सांसारिक) और नि:श्रेयस् (मुक्ति) सुख की प्राप्ति होती है। जो मानव इस उत्तम धर्म का पालन नहीं करता है, उसका जन्म निरर्थक (निष्फल) है अर्थात् ऐसे प्राणी रात-दिन कुटुम्ब के मोह एव विषय-कषायो में फँसकर धर्म कर्म को भूल जाते हैं, वे मानों अपने जीवन रूपी रत्न को विषयकषाय रूपी कौवे को उड़ाने के लिये समुद्र में फेंककर पश्चात्ताप करते हैं॥68॥

पाप कर्म की दशा

हितं कर्म परित्यज्य, पापकर्मसु रज्यते।
तेन वै दह्यते चेतः, शोचनीयो भविष्यति॥69॥

जो मानव अभी आत्महितकारी क्रियाओं को छोड़कर पाप क्रियाओं में रंजायमान होते हैं (लीन होते हैं), वे निश्चय से अपने चित्त को व्यर्थ में दग्ध करते हैं। भविष्य मे उनकी दशा शोचनीय होगी।

आत्महित आत्मज्ञान सहित धर्म का आचरण करने से होता है। जो मूर्ख आत्मस्वभाव वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म को छोड़कर विषय-कषायों के आधीन होकर रात-दिन हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह-अर्जन आदि पापक्रियाओं में लीन रहते हैं, वे मानव मानों अपनी आत्मा को दग्ध करते हैं, आत्म-अहित करते हैं तथा घोर कर्मों का बन्ध कर दुर्गति को प्राप्त होते हैं। जब इन पापकर्मों का उदय आएगा तो जीव को दु:ख भोगने ही पड़ेंगे, तब वह पश्चात्ताप करेगा—"अहो! मैंने मानव जैसी उत्तम पर्याय को प्राप्त कर भी आत्महित नहीं किया, इसलिए मुझे ये कष्ट भोगने पड रहे हैं"॥69॥

जिनधर्म को धारण करने की प्रेरणा

यदि नामाप्रियं दु:खं, सुखं वा यदि वा प्रियम्।
ततः कुरुत सद्धर्मं, जिनानां जितजन्मनां॥70॥

हे आत्मन्! यदि वास्तव में तुझे दु:ख अच्छा नहीं लगता है और सुख प्यारा लगता है तो ससार (जन्म) को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सद्धर्म को धारण कर।

दुःखों का मूल कारण है पापकर्मों का उदय और सांसारिक सुखो का कारण है पुण्यकर्मों का उदय। पापकर्मों के विनाश और पुण्यकर्म के संचय हेतु जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित अहिसामय वस्तु स्वभाव रूप धर्म को धारण करना परमावश्यक है, क्योंकि यह सासारिक अभ्युदय और मुक्ति को देने वाला है ॥70 ॥

परम आश्चर्य

विशुद्धादेव संकल्पात्समं सद्भिरुपार्ज्यते।
स्वल्पेनैव प्रयासेन, चित्रमेतदहो परम् ॥71 ॥

अहो। यह बडे आश्चर्य की बात है कि विशुद्ध सकल्प से समभावरूप यह धर्म सज्जन पुरुषों के द्वारा थोडे ही प्रयत्न से उपार्जित कर लिया जाता है।

परिणामो की गति बड़ी विचित्र है, क्योकि परिणामो की विशुद्धि से नित्य निगोद मे रहने वाले प्राणी भी निगोद से निकल कर मनुष्यभव प्राप्त कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण कर-मुक्तिपद प्राप्त कर लेते हैं और कोई 11 वे गुणस्थान से गिरकर अर्द्धपुद्‌गलपरावर्तन काल तक ससार मे भटकते रहते हैं। अत: आत्महित और अहित के कारण हैं जीव के परिणाम । इन परिणामो की विशुद्धि से स्वल्पप्रयास और स्वल्प काल मे ही कर्मों की निर्जरा कर जीव मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है।

अत: सामायिक, आत्मध्यान, शास्त्र-पठन आदि के द्वारा पूर्वावस्था में परिणामो को विशुद्ध कर पीछे शुद्धोपयोग मे लीन होने का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात् सदैव समता भाव को जागृत करना चाहिए।

धर्म ही त्राता है

धर्म एव सदा त्राता, जीवानां दुःखसंकटात्।
तस्मात् कुरुत भो यत्नं तत्रानन्तसुखप्रदे ॥72 ॥

दुःख-सकटों से जीवों की निरन्तर रक्षा करने वाला एक धर्म ही है, इसलिए हे आत्मन्। अनन्त सुख को देने वाले उस धर्म मे तू पुरुषार्थ कर।

धर्म के प्रभाव से अशुभ कर्म का शुभ में संक्रमण हो जाता है, शुभ कर्मों का अनुभाग विशेष बढता है और अशुभ कर्मो का अनुभाग स्थितिबन्ध घटता है। नवीन शुभ कर्मो का आगमन होता है। उस पुण्य कर्म से सासारिक अभ्युदय और परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा सासारिक आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्राणियों का रक्षक एक धर्म ही है इसलिए दु:ख सकट से रक्षक एव अनन्त सुखप्रदायक वस्तु स्वभाव या रत्नत्रय रूप धर्म मे प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् धर्म-कार्य मे पुरुषार्थ करना चाहिए॥72॥

दु:खी होने का कारण

यत्त्वया न कृतो धर्मः, सदा मोक्षसुखावहः।
प्रसन्नमनसा येन, तेन दुःखी भवानीह॥73॥

हे आत्मन्! तूने प्रसन्नचित से मोक्षसुख को देने वाले धर्म का सदा पालन नहीं किया, इसलिये ही तू इस लोक मे दु:खो का पात्र बन रहा है।

दु:खो का कारण है—पाप का उदय और पाप का बन्ध होता है आर्त्त-रौद्र ध्यान से, इसलिए आचार्यदेव ने कहा है-हे आत्मन्! तूने प्रसन्नमन से सदा धर्म -कार्य नहीं किये-क्योकि मानसिक आकुलता से आर्त्त, रौद्र ध्यान होता है, प्रसन्न मन से धर्म ध्यान तथा मन के निर्विकल्प होने से शुक्ल ध्यान। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं तथा आर्त्त और रौद्र ध्यान ससार के कारण हैं। जो मानव धार्मिक क्रियाओ को भी दु.ख भाव से वा वैमनस्य से करता है उसके मोक्ष के हेतु पुण्य का बन्ध भी नहीं होता। कहा भी है कि—

'हे भगवन्! मैंने आपका नाम भी सुना है, पूजा भी की है और दर्शन भी किये हैं परन्तु भक्तिपूर्वक आपको हृदय मे धारण नहीं किया इसलिये हे जनबान्धव! मैं दु·खों का पात्र बना हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ फल देने वाली नहीं होतीं।''(38/कल्याण मन्दिर स्तोत्र) अत: निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र रूप शुद्धोपयोग एव देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, तप, शील उपवास आदि क्रिया रूप शुभोपयोगमय धार्मिक क्रियाओ मे प्रसन्नचित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस शुभोपयोग (धर्म-ध्यान) और शुद्धोपयोग (निर्विकल्प धर्मध्यान और शुक्लध्यान) के अभाव में ही आत्मा दु:ख का पात्र बनता है॥73॥

कर्मोदय होने पर रक्षक कौन है ?

यत्त्वया क्रियते कर्म, विषयान्धेन दारुणम्।
उदये तस्य सम्प्राप्ते, कस्ते त्राता भविष्यति ॥74॥

हे आत्मन्! पचेन्द्रिय-विषयों में अन्धा होकर तूने जो कर्मबन्ध किया है, उस कर्म के उदय में आने पर तेरा रक्षक कौन होगा अर्थात् कोई नहीं होगा।

यह जीव शुभाशुभ भावों के द्वारा अकेला ही कर्मों का बन्ध करता है और अकेला ही उनके फल का भोक्ता बनता है।

अन्याय, अभक्ष्य-भक्षण, मिथ्यात्व, कषाय और पचेद्रिय विषयवासनाओं के द्वारा उपार्जित तीव्र कर्मों का जब उदय आता है तब अनेक प्रकार की आधि (मानसिक पीडा), व्याधि (शारीरिक पीडा) उत्पन्न होती है। उस आधि, व्याधि को बॅटाने मे कोई समर्थ नहीं होता। उन कर्मों के आधीन होकर यह आत्मा अकेला ही चौरासी लाख योनिमय चारो गतियो मे भ्रमण करता रहता है। इसलिए हे आत्मन्! तू धर्म-कार्यों मे प्रवृत्ति कर, ये ही तेरे रक्षक हैं॥74॥

6. इन्द्रिय-भोगों की असारता

भोगों से तृप्ति नहीं होती

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान्, देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्त. स किं प्राप्स्यति सम्प्रति ॥75॥

हे आत्मन्! स्वर्गलोक मे इच्छानुसार भोगो को निरन्तर भोगकर भी जो निश्चय से तृप्त नहीं हुआ, वह प्राणी क्या वर्तमानकालीन मनुष्यभव में प्राप्त होने वाले तुच्छ भोगों से तृप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

इन्द्रियजन्य भोगो से कभी तृप्ति नहीं होती। ईंधन डालने से अग्नि और नदियों से समुद्र तृप्त नहीं हो सकता। जैसे-जैसे उत्तम-उत्तम भोग भोगे जाते हैं वैसे-वैसे तृष्णा रूपी नागिन अधिक-अधिक जहर के डक मारती है। दाद को जितना खुजलाया जाता है, उतनी ही खाज अधिक बढती है।

देवलोक मे विक्रिया के द्वारा अनेक शरीरो का निर्माण कर देवागनाओ के साथ निरन्तर दिव्य भोगों को सागरोपम पर्यन्त भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती तो क्या वर्तमानकालीन तुच्छ भोगों से तृप्ति हो सकती है ? मधुर क्षीरसमुद्र का पानी पीने से जो प्यास नहीं बुझती, वह प्यास क्या ओस की बूँद को चाटने से मिट सकती है ? अर्थात् नहीं मिट सकती। अत: अतृप्तिकारक भोगो में फँसकर महामूल्यवान् मानव जन्म को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए ॥75 ॥

विष से भी अधिक दु:खद विषय-भोग

वरं हालाहलं भुक्तं, विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्त-भवदु:खदम् ॥76 ॥

एक ही जन्म को नष्ट करने वाला हालाहल विष खा लेना अच्छा है, परन्तु अनन्त भवो में दु:ख देने वाले भोग रूपी विष का पान करना अच्छा नहीं है।

मूर्ख प्राणी पंचेन्द्रिय-विषय-सुखो मे आसक्त होकर न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का विचार नहीं रखते हैं और स्वच्छन्द होकर भोगो में लिप्त हो जाते हैं। वे धर्मकार्यों से विमुख होकर निरन्तर विषय-भोगो मे मग्न होकर तीव्र पापकर्म का बन्ध कर नरक निगोद में अनन्त काल तक दु:ख भोगते रहते हैं। इसलिये आचार्य देव कहते हैं कि हे आत्मन्! तद्भवमरणकारक हालाहल विषपान करना श्रेयस्कर है—क्योंकि वह इसी भव का विनाशक है परन्तु विषय-वासना का विष पीकर अनन्त काल तक जन्म मरण के दु:ख भोगना अच्छा नहीं है ॥76 ॥

इन्द्रियसुख सुखाभास हैं

इन्द्रियप्रभवं सौख्य, सुखाभासं न तत्सुखं।
तच्च कर्मविबन्धाय, दु:खादानैकपण्डितम् ॥77 ॥

इन्द्रियों के विषय-भोगो से उत्पन्न सुख सुखाभास है, वास्तविक सुख नहीं है और वह सुखाभास विशेष कर्मबन्ध का कारण है तथा दु:ख देने में पण्डित है।

सुख वह होता है जिससे ग्लानि न हो। जिससे ग्लानि होती है, वह सुख, सुख नहीं सुखाभास है। इन्द्रियजन्य सुख राग भाव के कारण प्रिय प्रतीत होते है, राग के अभाव मे वे काले नाग के समान जान पड़ते हैं, अत. इन्द्रियजन्य सुखों मे सुख की भ्रान्ति है। इन्द्रियसुखों के अनुभव में कर्मबन्ध होता है और वह कर्मबन्ध महादु:ख देने वाला है। राग भाव की पीड़ा न सह सकने के कारण यह प्राणी इन्द्रिय-भोगों का सेवन करता है, उससे वर्तमान की पीड़ा कुछ क्षणो के लिये शमित होती दिखाई देती है, किन्तु कुछ क्षणो के बाद ही तृष्णा के वेग से वह पीडा और अधिक बढ़ जाती है। अतएव इन्द्रियो का भोग चित्त के ताप को बढाने वाला ही है ऐसा समझकर ज्ञानी जन इन विषयों को असार, दु:खरूप एव ससारवर्द्धक जानकर इनसे आसक्ति हटा लेते हैं, इनका त्याग कर देते हैं तथा केवल अतीन्द्रिय आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिये सच्चा प्रयत्न करते हैं ॥77 ॥

इन्द्रियों को धर्म-कार्यों में लगाने की प्रेरणा

अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व, विषयोत्पथगामिन:।
वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान्, सन्मार्गे विनियोजयेत् ॥78 ॥

हे आत्मन् ! विषय रूप कुमार्ग मे जाने वाले, इन्द्रिय रूपी घोडो को पकडो और वैराग्य रूपी लगाम से खींचकर उन्हे सन्मार्ग मे लगाओ।

जैसे लगामरहित घोड़े घुड़सवार को कुमार्ग मे ले जाकर गड्ढे में पटक देते हैं परन्तु घोड़े की लगाम घुड़सवार के हाथ मे हो तो घुड़सवार घोडे को अच्छे मार्ग से चलाकर स्वस्थान मे पहुँच जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय रूपी घोड़े की लगाम जिनके वश में नहीं हैं, बेलगाम होकर विषयों मे भटकते रहते हैं, वे आत्मा रूपी घुड़सवार को दुर्गति रूपी गड्ढे मे पटक देते हैं अत: हे आत्मन्! वैराग्य रूपी लगाम के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़ों को अपने-अपने विषयो से हटाकर जिनेन्द्रकथित धर्ममार्ग मे लगाओ। वैराग्य के बिना इन्द्रियाँ वश मे नहीं हो सकतीं। इन्द्रियसुख की वाञ्छा वैराग्य से ही मिट सकती है। सांसारिक सुखों से विरक्ति होना वैराग्य है और वैराग्य से ही इन्द्रियाँ वश में होती हैं, अत: संसार के सुखों की आसक्ति छोड़कर आत्महित के मार्ग में लगना चाहिए ॥78 ॥

इन्द्रियविषय ही शत्रु हैं

अक्षाण्येव स्वकीयानि, शत्रवो दुःखहेतवः।
विषयेषु प्रवृत्तानि, कषायवश-वर्तिनः ॥79॥
इन्द्रियाणां यदा छन्दे, वर्त्तते मोहसङ्गतः।
तदात्मैव तव शत्रु-रात्मनो दुःखबन्धनः ॥80॥

कषायों के वश मे रहने वाले आत्मा की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियाँ ही दुःख की कारणभूत होने से शत्रु हैं।

जब यह प्राणी (यानी तू) मोहनीय कर्म की सगति से उन्मत्त होकर इन्द्रियों के आधीन आचरण करता है, तब हे आत्मन्! तेरी आत्मा ही आत्मा के दुःख बन्धन (पापबन्ध) का कारण होने से स्वय की शत्रु हो जाती है।

आत्मा के वास्तविक शत्रु पचेन्द्रियों के विषय-भोग एवं क्रोधादि कषाय हैं। उन कषायों में लोभ बहुत बलवान है क्योंकि लोभ के वशीभूत हुए लोभी की स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अपने-अपने भोग्य विषयों मे स्वच्छन्द रीति से प्रवृत्ति करती हैं, जिससे विषय-वाञ्छारूप आकुलता बढ़ती जाती है। इच्छित पदार्थों के न मिलने से वा इनका वियोग होने से कष्ट का अनुभव होता है, तीव्र राग वा द्वेष होने से तीव्र कर्मों का बन्ध होता है जिससे वह प्राणी बहुत काल तक दुर्गतियों मे असहनीय क्लेश भोगता रहता है। इसलिए परमार्थ से विचार किया जाय तो आत्मा की वास्तविक शत्रु पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति है।

जब यह आत्मा मोह रूपी मदिरा का पान कर आत्महित को भूल जाता है, तब यह पाँचों इन्द्रियों के वश होकर मनमाने कार्य करता है और कार्यों से पापकर्म का उपार्जन कर ससार मे भटकता हुआ क्लेशों को भोगता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा का शत्रु स्वय आत्मा ही है॥79-80॥

आत्महित में रत कौन होते हैं

इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि, विषयेषु निरन्तरम्।
सज्ज्ञानभावनाशक्त्या, वारयन्ति हिते रताः ॥81॥

जो अपने-अपने विषयो मे निरन्तर प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियों को सम्यग्ज्ञान भावना की शक्ति से रोकते हैं, वे ही आत्महित में रत होते हैं।

स्वभाव से चचल इन्द्रियाँ निरन्तर इष्ट विषयों में प्रवृत्त होकर आत्मा को उसके स्वभाव से विमुख कर देती हैं, परन्तु ज्ञानी आत्मा इन्द्रियस्वरूप का विचार कर अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है। इनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोककर आत्मकल्याण मे लीन हो जाता है अर्थात् इन्द्रियो को शास्त्र-पठन, जिनबिम्ब दर्शन, आत्मचिन्तन में लगाकर विषयों से पराङ्मुख हो आत्महित में लीन होता है ॥81 ॥

इन्द्रियविषय परम कष्टकारी हैं

इन्द्रियेच्छारुजामज्ञः, कुरुते यो ह्युपक्रमम्।
तमेव मन्यते सौख्यं, किं तु कष्टमतः परम्॥82 ॥

जो अज्ञानी मानव इन्द्रियो के इच्छा रूपी रोगो का उपक्रम (उपाय) करता रहता है तथा इन्द्रियसुख को ही सौख्य मानता है, निश्चय से, इससे अधिक दु:ख और क्या हो सकता है।

इन्द्रियविषयाभिलाषा रूपी रोग के शमन करने का उपाय है-आत्मानुभव एव वैराग्य। भोगो से अभिलाषाये बढती रहती हैं जैसे अग्नि मे घी डालने पर ज्वाला भभकती है। जो अज्ञानी पूर्वसस्कार के कारण विषयाभिलाषाओं को मिटाने के लिए विषयभोगो मे प्रवृत्ति कर सुख का अनुभव करते हैं वे मानो रोगों के ताप को मिटाने के लिये रोगवर्द्धक औषधि सेवन कर सुख का अनुभव करते हैं। जैसे रोग हितकारी नहीं वैसे रोगवर्द्धक औषधि भी हितकारी नहीं है। विषय भोगने से इच्छा रूपी रोग बढ़ता जाता है, अत: इन इन्द्रियविषयो को हेय जानकर छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। जो मानव विषयसुखों में लीन होकर धर्माचरण से विमुख हो जाता है, वह क्षणिक सुख के बदले में महान् कष्ट भोगता है। आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय-विषयों को सुख मानकर उनमे लीन होने से अधिक अन्य कोई दु:ख नहीं है ॥82 ॥

परम तत्व का स्वरूप

आत्माभिलाषरोगाणां, यः शमः क्रियते बुधैः।
तदेव परमं तत्त्व-मित्यूचुर्ब्रह्मवेदिनः ॥83॥

हे आत्मन्! ब्रह्मज्ञानी सन्तों ने कहा है कि बुद्धिमान् अपने विषयाभिलाषा रूपी रोगों का जो शमन करते हैं और इन्द्रिय-वासनाओं से चित्त को हटाकर जो उसे आत्मसाधना में लगाते हैं, वही परम तत्व है।

इन्द्रियविषयों की अभिलाषा इन्द्रियजन्य भोगों के अनुभव से नहीं मिटती, जैसे अग्नि ईंधन डालने से नहीं बुझती। यह विषय-वासनाओं का रोग ज्ञान-वैराग्य सहित आत्मध्यान, आत्मसवेदन, वीतराग प्रभु के गुण-स्मरण रूप धर्म-ध्यान वा निर्विकल्प समाधि में लीन होने रूप शुक्ल ध्यान रूपी औषधि के सेवन करने से मिटता है। धर्म का परम सार आत्मानुभव ही है। यही है अनादिकालीन विषयवाञ्छा रूप रोग को दूर करने की अचूक दवा। अतः विवेकी मानव अतृप्तिकारी इन्द्रियभोगों में न फँसकर परम शान्ति के सागर निज स्वभाव में जो लीन रहते हैं, उसी को ऋषिजनों ने परम तत्त्व कहा है। अतः विषयाभिलाषाओ से विमुख होकर आत्मध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए ॥83॥

संसारच्छेद का कारण

इन्द्रियाणां शमे लाभं, रागद्वेषजयेन च।
आत्मानं योजयेत् सम्यक्, संसृतिच्छेदकारणम् ॥84॥

इन्द्रियों के विषयों का शमन कर और रागद्वेष पर विजय प्राप्त कर संसृति के नाश में कारणभूत कल्याण मार्ग में आत्मा को भली प्रकार लगाना चाहिए।

जो प्राणी इन्द्रियजन्य विषयवासनाओं के वशीभूत होकर रागद्वेष के जाल में फँस जाता है, वह संसार-समुद्र मे गोते खाता रहता है अतः जो संसार दुःखों से छूटना चाहते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि कषायों का शमन कर, इन्द्रिय-विषयवासनाओं का परित्याग कर आत्मस्वभाव में रमण करें। यही संसार के उच्छेद का कारण है, क्योंकि आत्मिक रस का स्वाद लेने पर नूतन

कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है। सवर और निर्जरा ही मुक्ति के कारण हैं ॥84 ॥

जीवन की सफलता

इन्द्रियाणि वशे यस्य, यस्य दुष्टं न मानसं
आत्मा धर्मरतो यस्य, सफलं तस्य जीवितम् ॥85 ॥

जिसकी इन्द्रियाँ वश मे हैं, जिसका मन पापों से कलुषित नहीं है, जिसकी आत्मा धर्ममार्ग में रत है, उसी मानव का जीवन सफल है।

मानव-जीवन की सफलता ही वह है जहाँ आत्मा कर्मोदयजन्य साता परिणति में अहकारी नहीं होता और असाता के उदय मे आकुल-व्याकुल होकर चित्त को विकृत नहीं करता। पचेन्द्रियो के वश मे होकर ससारवृद्धि के कारणभूत पापकार्यो मे रत नहीं होता और निरन्तर आत्मकल्याण के कार्यों में रत रहता है तथा अपने जीवन की अमूल्य घड़ियों को सम्यग्दर्शन सहित श्रावक एव मुनि के व्रतो का पालन करने में बिताता है ॥85 ॥

विश्व में पूजनीय

परनिन्दासु ये मूकाः, निजश्लाघ्यपराङ्मुखाः।
ईदृशैर्यैः गुणैर्युक्तास्ते पूज्या. सर्वविष्टपे ॥86 ॥

जो मानव दूसरो की निन्दा करने मे मौन रखते हैं और अपनी प्रशसा करने मे उदासीन रहते हैं अर्थात् अपनी प्रशसा नहीं करते हैं, इन गुणों से जो युक्त होते हैं, वे ही मानव सर्व लोक मे पूज्य होते हैं।

ज्ञानी दूसरो की निन्दा एव अपनी प्रशसा नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि स्वप्रशसा और परनिन्दा करने से नीच गोत्र का आस्रव होता है तथा नीच गोत्र का आस्रव मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अत: स्वप्रशंसा, परनिन्दा सम्यग्दर्शन की घातक है और जीव को चतुर्गति मे भटकाने वाली है। अत: परनिन्दा और स्वप्रशसा करके सम्यग्दर्शन का हनन नहीं करना चाहिए। जो तत्त्वज्ञ दूसरों की निन्दा और आत्म-प्रशसा नहीं करते हैं वे ही सज्जन तीनों लोकों मे प्रशसनीय, आदरणीय और सम्माननीय होते हैं ॥86 ॥

सुख का भोक्ता होता है

प्राणान्तिकेऽपि सम्प्राप्ते, वर्जनीयानि साधुना
परलोक-विरुद्धानि, येनात्मा सुखमश्नुते ॥87 ॥

प्राणविनाश का समय आ जाने पर भी साधुजनों के लिये परलोक-विरुद्ध कार्य वर्जनीय ही हैं। इसी से आत्मा सुख का भोक्ता बनता है।

मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य-भक्षण, रागद्वेष आदि कारणों से अशुभ कर्म का बन्ध होता है। अशुभ कर्म के कारण जीव परलोक में दुःखी होता है। अतः प्राणान्त संकट उपस्थित हो जाने पर भी परलोक में दुःख देने वाले हिंसादि पापों मे प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे परलोक में सुख की प्राप्ति हो ॥87 ॥

विनयी का कभी अपमान नहीं होता

स मानयति भूतानि, यः सदा विनयान्वितः।
स प्रियः सर्वलोकेऽस्मिन्नापमानं समश्नुते ॥88 ॥

जो मानव विनयशील है और सर्व जीवो की रक्षा करता है, वह इस सम्पूर्ण लोक में प्रिय होता है। वह कभी भी अपमान का पात्र नहीं होता।

सर्व जीवों के साथ मैत्रीभाव और विनयशीलता इन दो गुणों के कारण मानव ससार मे प्रिय और आदरणीय बन जाता है। अतः सर्व जीवो के साथ मैत्रीभाव, दुःखीजनो पर करुणाभाव, गुणीजनो के प्रति प्रमोदभाव तथा दुर्जन, क्रूर, कुमार्ग में रत प्राणियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखने चाहिए। ऐसी परिणति रखने वाला सबका प्रिय होता है और उसका कोई अपमान नहीं करता ॥88 ॥

विषयों में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए

किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं, कदाचिदपि धीमता।
विषयास्तु न भोक्तव्याः, यद्यपि स्युः सुपेशलाः ॥89 ॥

बुद्धिमानों को कदाचित् किम्पाक फल का भक्षण करना तो ठीक है, परन्तु सुन्दर भी विषयो को कभी नहीं भोगना चाहिए।

किम्पाक फल एक विषफल होता है, जो दिखने में सुन्दर, खाने में मधुर और सुरभित होता है परन्तु खाने के बाद प्राणघातक होता है। उन फलों को कोई खाना नहीं चाहता। यदि कदाचित् ऐसा फल खाने में आ भी जाये तो वर्तमान शरीर का ही नाश होता है परन्तु पचेन्द्रियजन्य विषयभोग तो किम्पाक फल से भी अधिक हानिकारक हैं, क्योंकि वे इस भव में तो दुःखद हैं ही, परलोक में भी दुःख देने वाले हैं। वे आत्मा की निजी सम्पत्ति को लूटकर उसे भिखारी बनाकर दुर्गति मे पटक देते हैं। अतः अतिमनोज्ञ विषय-भोगो की प्राप्ति होने पर भी बुद्धिमानों को उनमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ॥89॥

7. काम-वासना की असारता

स्त्री-संसर्गः दुःख का कारण

स्त्रीसम्पर्कसम सौख्यं, वर्णयन्त्यबुधाः जनाः।
विचार्यमाणमेतद्धि, दु.खानां बीजमुत्तमम् ॥90॥

अज्ञानी जन स्त्री के ससर्ग को सुख कहते हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्त्री का ससर्ग ही सर्व दुःखो का मूल कारण है।

जो अविवेकी हैं, विचारहीन हैं, क्षणिक सुखो में लुब्ध हैं वे ही स्त्री के ससर्ग को सुख कहते हैं। वे इस वासना मे लुब्ध होकर हेयोपादेय को भूल जाते हैं। यदि ज्ञाननेत्र से देखा जाय वा तत्त्व से विचार किया जाये तो सारे दुःखों की खान ही स्त्री है, क्योंकि काम-विकार से पीड़ित मानव कामरोग को शान्त करने के लिये रमणी का ससर्ग करता है। उसके ससर्ग से मानव की शारीरिक शक्ति, धन, आत्मबल, धर्म, यश आदि सर्व नष्ट हो जाते हैं, कामवासना अत्यधिक उत्तेजित होती है, अतः स्त्री का संसर्ग सर्वदुःखों की खान है, ऐसा जानकर स्त्रीसंसर्ग का त्याग करना चाहिए ॥90॥

कामाग्नि दाहक है

स्मराग्निना प्रदग्धानि, शरीराणि शरीरिणां।
शमाम्भसा हि सिक्तानि, निवृत्ति नैव भेजिरे ॥91॥

कामरूपी अग्नि के द्वारा जले हुए प्राणियो के शरीर शीतल जल से सींचने पर भी शान्ति को प्राप्त नहीं होते हैं।

जब काम का उद्वेग चढ़ता है, तब किसी स्त्री के स्नेह के कारण काम की अग्नि मन मे जल उठती है और मन के साथ शरीर भी जलने लग जाता है, दीर्घ, उष्ण श्वास निकलने लगते हैं। किसी तरह चैन नहीं पड़ता है। कामी मानव को कितने भी शीतल जल से स्नान कराया जाय, अन्य भी कितने ही शीतोपचार किये जाये तो भी उसकी काम की जलन नहीं मिटती है। काम की दाह काम-भोग से नहीं मिटती, वह मिटती है ज्ञान वैराग्य संयुक्त होकर आत्मानन्द का भोग करने से। आत्मानुभव से इच्छाशक्ति का दमन होता है और इन्द्रियसुखों से अरुचि हो जाती है, विवेक जागृत हो जाता है, आत्मा की ओर दृष्टि जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द का गहरा स्वाद आने लगता है और कामभाव का सहज ही शमन हो जाता है। अत: वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिये कामिनी का त्याग कर आत्मध्यान में मग्न होना चाहिए ॥91 ॥

कामान्ध को कहीं शान्ति नहीं मिलती

अग्निना तु प्रदग्धानां, शमोऽस्तीति यतोऽत्र वै।
स्मरवह्निप्रदग्धानां, शमो नास्ति भवेष्वपि ॥92 ॥

इस लोक मे अग्नि से जले हुए को शान्ति मिल सकती है परन्तु काम रूपी अग्नि से जले हुए प्राणियो को भवान्तरो मे भी शान्ति नहीं मिलती।

अग्नि से सन्तप्त प्राणियो का शरीर घृतलेपन, शीतल जल से सिञ्चन, चन्दन-विलेपन आदि कारणो से शान्त एव शीतल हो सकता है परन्तु जिसके मन मे काम की ज्वाला धधक रही है, वह शीतल मधुर जल का पान करने से तथा चन्दन-विलेपन आदि बाह्य उपचारों से शान्त नहीं हो सकती है। कामाग्नि एक ही भव मे नहीं भव-भवान्तरो मे जलाती रहती है कामभोग से भी शान्त नहीं होती प्रत्युत् अधिक बढ़ती रहती है। इस भीषण अग्नि ज्वाला को शान्त करने का उपाय है सम्यग्ज्ञान और वैराग्य, अत: इनका आश्रय लेना चाहिए ॥92 ॥

काम ही महाव्याधि है

मदनोऽस्ति महाव्याधिर्दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः।
संसारवर्धनेऽत्यर्थं, दुःखोत्पादनतत्परः॥93॥

कामवेदना महाव्याधि है। इसकी चिकित्सा ज्ञानी जनों ने दुष्कर कही है। यह व्याधि दुःखोत्पादन में तत्पर है तथा अतिशय रूप से संसार को बढ़ाने वाली है।

संसार के सर्व रोगो की चिकित्सा सुसाध्य है, उत्तम पथ्य और औषधि के सेवन से ये व्याधियाँ मिट सकती हैं परन्तु काम व्याधि भयकर और दुश्चिकित्स्य है। इसको दूर करने के लिये किसी बाहरी पदार्थ का सेवन कार्यकारी नहीं है। इस व्याधि के आधीन हुआ प्राणी हेयोपादेय ज्ञान से शून्य हो जाता है और अन्यायमार्ग मे प्रवृत्ति करता है। जैसे रावण। स्त्रीसम्बन्धी राग से अन्धे हुए प्राणी के कौन से गुण नष्ट नहीं होते, अपितु सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। पूर्व सस्कारवश काम-ज्वाला की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। इसी के कारण यह प्राणी दुर्गतियों में भटकता है॥93॥

कर्मास्त्रव की कारण कामाग्नि

यावदस्य हि कामाग्नि·, हृदये प्रज्वलत्यलम्।
आस्त्रवन्ति हि कर्माणि, तावदस्य निरन्तरम्॥94॥

जब तक इस जीव के हृदय मे काम की ज्वाला तीव्रता से जलती रहती है। तब तक इस जीव के निरन्तर कर्मों का आस्त्रव होता रहता है।

दुःखद काम की ज्वाला के कारण आत्मा रागी-द्वेषी और मोही होता है। विषयों की तीव्र अभिलाषा एव विषय लम्पटता रूप आर्त्त-ध्यान से तीव्र आस्त्रव निरन्तर होता रहता है।

काम संसार-परिभ्रमण का कारण है

कामाहिदृढदष्टस्य, तीव्रा भवति वेदना।
यया सुमोहितो जन्तुः, संसारे परिवर्तते॥95॥

काम रूपी सर्प के द्वारा डसे हुए प्राणी के तीव्र वेदना होती है। इस तीव्र वेदना से मूर्च्छित हुआ यह प्राणी संसार मे परिवर्तन करता है, अर्थात् एक गति से दूसरी गति में चक्कर लगाया करता है।

विषैले कृष्ण सर्प के डसने से जो विष चढ़ता है, उससे तो इस वर्तमान शरीर का ही क्षय होता है, परन्तु काम रूपी सर्प के डसने से तीव्र राग रूपी ऐसा विष चढता है जिसकी शान्ति भवान्तरों में भी नहीं होती है। विषयवासनाओं की लम्पटता के कारण यह जीव तीव्र पाप उपार्जन कर जन्म-जन्म में शारीरिक मानसिक आदि कष्टों को सहन करता हुआ तथा एक अन्तमुर्हूर्त मे छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता हुआ अनन्त दुःख भोगता रहता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच परिवर्तन करता है॥95॥

काम दुःखों की खान है

दुःखानामाकरो यस्तु, संसारस्य च वर्धनम्।
स एव मदनो नाम, नराणां स्मृतिसूदनः॥96॥

दुःखो की खान, संसार का वर्द्धक जो कामदेव नामक शत्रु है, वही मनुष्यो की स्मरणशक्ति का घातक है।

काम को मदन वा मन्मथ कहते हैं। जितने भी शारीरिक एवं मानसिक दुःख हैं, उनकी उत्पत्ति का कारण काम है। काम-वेदना के कारण यह जीव इस लोक और परलोक मे दुःखी होता है। जैसे एक म्यान में दो तलवारे नहीं रहती हैं, उसी प्रकार एक चित्तधारा में कामवासना और धार्मिक विचार दोनो एक साथ नहीं रहते हैं। धर्म कर्म को भूला हुआ प्राणी ससार में परिभ्रमण करता रहता है। काम की ज्वाला शरीर के रुधिर को सुखाती है, वीर्यशक्ति को नष्ट कर स्मरण शक्ति का भी विनाश करती है। अतः शरीर, मन, बुद्धि और सर्व गुणों का विनाशक मदन नामक शत्रु है॥96॥

काम को वश मे करना बहुत कठिन है

संकल्पाच्च समुद्भूतः, कामसर्पोऽतिदारुणः।
रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ, वशीकर्तुं न शक्यते॥97॥

अन्तरग विचारों से उत्पन्न, राग-द्वेष रूपी दो जिह्वा वाले, अतिभयानक इस काम रूपी सर्प को वश में करना बहुत कठिन है।

मानसिक विचारों से उत्पन्न होने वाला मनोभू (काम) जीवात्मा को अपने स्वभाव से विचलित कर देता है तथा अज्ञान और अविवेक की सहायता से यह मन्मथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ से आत्मा को हटाकर हिसादि पापकार्यों मे उसकी प्रवृत्ति कर देता है। अत: शारीरिक शक्ति, धन, सम्पदा, बुद्धि आत्मज्ञान, ध्यान का विनाशक शत्रु काम ही है ॥97॥

काम धन का नाशक है

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा, सेयं संसारवर्धिनी।
दु:खस्योत्पादने शक्ता, शक्ता वित्तस्य नाशने ॥98॥

जो यह दुष्ट कामवासना है, वही ससार को बढ़ाने वाली है। यह दु:ख उत्पादन में समर्थ और धन का विनाश करने मे सक्षम है।

यह कामभाव दुष्ट से भी अधिक दुष्ट है, तीव्र बन्ध का कारण होने से ससारवर्द्धक है। शारीरिक पीड़ा, मानसिक सन्ताप आदि सर्व दु:ख का यह बीज है तथा इसके वशीभूत हुआ प्राणी वेश्यासेवन आदि कुकर्मों मे लग जाता है अत: यह कामभाव धन का नाशक भी है ॥98॥

कामाधीनता भवसमुद्र में गिराने वाली है

अहो ते धिषणा हीना, ये स्मरस्य वशं गता:।
कृत्वा कल्मषमात्मानं, पातयन्ति भवार्णवे ॥99॥

अहो (आश्चर्य है)। जो प्राणी काम के वशीभूत हो जाते हैं, वे बुद्धिहीन अज्ञानी अपनी आत्मा को पापी बना कर संसार-समुद्र मे गिरा देते हैं।

अहो शब्द खेद सूचक है। आचार्य श्री खेद के साथ कहते हैं कि जो अज्ञानी प्राणी आत्मस्मरण को छोड़कर पर वस्तु रूप स्त्री में रमण करते हैं, काम-भोग के आधीन होकर निरन्तर विषयाभिलाषा से अपने स्वभाव को कलुषित करते हैं वे कर्मपुञ्ज का सचय कर अपनी आत्मा को दु:ख के सागर मे गिरा देते हैं। ॥99॥

धर्म से पराङ्मुख करने वाला भी काम है

स्मरेणातीवरौद्रेण, नरकावर्त्त - पातिना।
अहो खलीकृतो लोको, धर्मामृतपराङ्मुखः ॥100॥

आचार्य देव कहते हैं कि नरक रूपी गड्डे में गिराने वाला अत्यन्त रौद्र (क्रूर) काम पिशाच सारे लोक को दुष्ट बनाकर धर्मामृत के पान से पराङ्मुख कर देता है।

काम रूपी शत्रु के आधीन हुए प्राणी अन्याय मे प्रवृत्ति कर नरक में गिर जाते हैं। कामातुरों के परिणाम धर्म की ओर से बिल्कुल दूर हो जाते हैं। उनको इस जन्म में कभी धर्मामृत के पीने का अवसर नहीं मिलता है। उनकी चेष्टा एक दुष्ट के समान हो जाती है, वे रात-दिन भोगों के आधीन होकर पाप-कार्यों मे ही लीन रहते हैं॥100॥

काम तापकारक है

स्मरेण स्मरणादेव, वैरं दैवनियोगतः।
हृदये निहितं शल्यं, प्राणिनां तापकारकम्॥101॥

वैरी कर्म के नियोग से, प्राणियों के हृदय मे स्थित कामरूपी शल्य काम के स्मरण मात्र से ही तापकारक है।

तीव्र वेद नोकषाय कर्म की उदीरणा होने से कामाभिलाषा उत्पन्न होती है, जिससे आकुलित होकर प्राणी धर्माचरण को भूल जाता है। कामवासना की शल्य काँटे के समान चुभती रहती है, जिससे व्याकुल होकर जीव तीव्र कर्म का बन्ध करता है अतः कामवासना आत्मा की शत्रु है॥101॥

स्मरशल्य की चिकित्सा

तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं, जिनमार्गरताः सदा।
येन सत्खण्डितां याति, स्मरशल्यं सुदुर्धरं॥102॥

हे आत्मन्! इस प्रकार काम की विडम्बना को जानकर सदा जैन मार्ग (जिनधर्म) में रत होकर सम्यक्चारित्र का पालन करो, जिस सम्यक्चारित्र के द्वारा अत्यन्त कठिन यह काम रूपी शल्य टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

जैसे काँटे या लोहे की कील रूप शल्य के चुभने से शान्ति नहीं मिलती है । उसको शरीर के अग से निकालकर फेंक देने से ही शान्ति मिलती है, उसी प्रकार कामवासना रूप शल्य के रहने पर आत्मा को शान्ति नहीं मिलती है, इस शल्य को निकालने के लिए सम्यग्दर्शन सहित व्रतों का पालन परम ब्रह्म परमात्मा का ध्यान और शुद्धात्मा का अनुभाव ही समर्थ है । शुद्धात्मा का अनुभाव और परब्रह्म का ध्यान सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र के पालन से ही होता है। अतः आचार्य कहते है कि कामाभिलाषा को मिटाने के लिए जिनधर्म में रत होकर व्रतो का पालन करो। इसी से कामवासना का खण्डन होता है ॥102 ॥

कामवासना अनर्थ-परम्परा की पोषक है

चित्तसंदूषणः कामस्तथा सद्गतिनाशनः ।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ, कामोऽनर्थपरम्परा ॥ 103 ॥

यह कामभाव चित्त को मलिन करने वाला, शुभ गति का विनाशक, सद् (समीचीन) व्रतो का ध्वसक और अनर्थ की परम्परा को चलाने वाला है।

कामवासना के उत्पन्न होते ही चित्त मलिन एव क्षुभित हो जाता है, विवेक भाव नष्ट हो जाता है और अशुभ कर्मों को बाँधकर जीव दुर्गति मे जाता है। कामी जीव समीचीन व्रतों का भी परित्याग कर देता है, अत· सारे अनर्थों की परम्परा का कारण है काम वासना की जागृति ॥103 ॥

सर्व आपत्ति का मूल-काम

दोषाणामाकरः कामो, गुणानां च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुः, आपदां चैव संगमः ॥ 104 ॥

सर्व दोषों की खान, गुणों का नाश करने वाला, पाप का निज बन्धु और बड़ी-बड़ी आपत्तियों का सगम कराने वाला यह काम है।

आत्मा के क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, ज्ञान आदि जितने भी उत्तम गुण हैं उनका विनाशक काम है। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा आदि दोषों की उत्पत्ति का कारण भी यह स्मर-वासना है। यही है तीव्र पापबन्ध

का कारण और इसी से लोक में राजदण्ड, पंचदण्ड तथा परलोक में नरक की वेदना भोगनी पड़ती है अतः सारी आपत्तियों का मुख्य कारण है स्त्री-भोगाभिलाषा। इसी के कारण मानव जगत् में अपयश का भाजन बनाता है ॥104॥

संसार परिभ्रमण का कारण : कामवासना

पिशाचेनैव कामेन, छिद्रितं, सकलं जगत्।
बंभ्रमेति परायत्तं, भवाब्धौ स निरन्तरम्॥105॥

भूत-पिशाच के समान इस काम ने सारे जगत् के प्राणियों को छिद्रित (दोषी) बना दिया है। काम के आधीन होकर यह जीव संसार-समुद्र में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है।

जैसे किसी को भूत-पिशाच लग जानेपर उसे शान्ति नहीं मिलती, उसका खाना-पीना छूट जाता है, वह न सुखपूर्वक सोता है और न शान्ति से बैठ ही सकता है उसी प्रकार काम-पिशाच से पीड़ित मानव को शान्ति नहीं मिलती है। काम की जागृति होते ही भूख-प्यास नष्ट हो जाती है, न निद्रा आती है और न किसी कार्य में मन लगता है। वह कामी पुरुष/स्त्री आकुलतामय जीवन बिताता है तथा विकार भावों से अशुभ कर्मों का आस्रव कर दुर्गति मे भटकता रहता है और जन्म-मरण के दुःख भोगता रहता है। कामी प्राणी को आत्मिक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती ॥105॥

कामनिवारण मंत्र

वैराग्य-भावना-मंत्रैस्तन्निवार्य महाबलं।
स्वच्छन्दवृत्तयो धीराः सिद्धिसौख्यं प्रपेदिरे॥106॥

स्वतन्त्र आचरण रखने वाले अर्थात् काम के वशीभूत न होने वाले धीर-वीर पुरुष वैराग्यभावना रूपी मंत्रों से उस काम रूपी महाबल को दूर करके मोक्षसुख प्राप्त कर चुके हैं।

विषयकषायों के आधीन न होकर अपनी आत्मा में रमण करना स्वच्छन्द वृत्ति या स्वाधीन वृत्ति है। स्वच्छन्द वृत्ति का अर्थ यहाँ स्वेच्छाचार नहीं है। जो

स्वाधीन वृत्ति वाले होते हैं, वे धीर होते हैं, क्योंकि धैर्य के बिना इन्द्रियों को पराजित करना सम्भव नहीं है।

स्वसंवेदन रूप आत्म-धर्म की वाछा करने वाले धीर-वीर महापुरुष विचारते हैं कि काम के सेवन से कामरोग शान्त नहीं होता, जैसे ईंधन डालने से अग्नि शान्त नहीं होती। अत: वैराग्य भावना रूपी मन्त्र के द्वारा महाशक्तिशाली काम का निरोध कर शिव सौख्य प्राप्त करना चाहिए। शिवसुख की बाधक विषय वासना है इसलिये इसको जीतकर स्वाधीन वृत्ति को स्वीकार करना चाहिए।

चारों गतियो मे सर्वोत्कृष्ट है मनुष्य गति। इसकी सफलता भोगो से नहीं योगसाधना से है। भूतकाल में राजपद, चक्रवर्तीपद, देवपद आदि पर्यायो मे सागरों पर्यन्त इन्द्रियजन्य सुखों का अनुभव किया परन्तु आज तक तृप्ति नहीं हुई तो क्या इन मानुषिक तुच्छ भोगो से तृप्ति हो सकती है ? नहीं, कभी नहीं हो सकती। अतएव कामवैरी के वश मे नहीं होना ही श्रेयस्कर है। जो इस काम पर विजय प्राप्त करते हैं, वे सदा के लिये भव भ्रमण से छूट जाते हैं ॥106॥

कामी की प्रवृत्ति

कामी त्यजति सद्वृत्तं, गुरोर्वाणीं ह्रियं तथा।
गुणानां समुदायं च, चेत: स्वास्थ्यं तथैव च ॥107॥
तस्मात्काम. सदा हेयो, मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभि:।
संसारं च परित्यक्तुं, वाञ्छद्भिर्यतिसत्तमै: ॥108॥

कामी मानव सम्यक्चारित्र, गुरु की आज्ञारूप वाणी, लज्जा, गुणसमुदाय और चित्त की निर्मलता-निराकुलता को छोड़ देता है। इसलिये मोक्ष के इच्छुक तथा संसार को छोड़ना चाहने वाले साधुजनों के द्वारा यह कामवासना सदैव छोड़ने योग्य है।

यह कामभाव ब्रह्मचर्य व्रत के साथ-साथ अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का भी घातक है। जो काम के वशीभूत हो जाते हैं, उनके हृदय मे गुरु की

उपकारक वाणी प्रवेश नहीं कर सकती है, वे गुरुओं की अवज्ञा करते हैं। लज्जा गुण कामियों के हृदय से निकल जाता है, काम-कलंक से क्षमा, सन्तोष, शान्ति, सद्ज्ञान, आत्मध्यान, वैराग्य आदि सर्व गुणों का विध्वस हो जाता है। इष्ट स्त्री के साथ समागम करने के लिये मन आकुलित रहता है। अत: चित्त की स्वस्थता, शुद्ध विचार-शक्ति नहीं रहती है।

जो ब्रह्मज्ञानी सत्पुरुष इस दु:खमय ससार से छूटना चाहता है, मुक्तिसुख का इच्छुक है और जिसे ध्रुव शान्तिमय स्वकीय आनन्द में लीन होने की भावना जागृत हुई है तो उसे कामभावना का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा कामभाव जागृत करने वाले निमित्तो से दूर रहना चाहिए।

जो स्त्रियों में राग बढाने वाली कथाएँ नहीं सुनते, उनके मनोहर अगो को राग भाव से नहीं देखते, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करते, अपने शरीर का श्रृगार नहीं करते तथा जिस स्थान मे नपुसक वा स्त्रियाँ रहती हैं वहाँ जाना, बैठना नहीं करते, एकान्त मे शयनासन करते हैं, वे ही कामवासना पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं ॥107-108॥

कामवासना और धनाभिलाषा हेय है

कामार्थौ वैरिणौ नित्यं, विशुद्धध्यानरोधनौ।
संत्यज्यतां महाक्रूरौ, सुखं संजायते नृणां॥109॥

नित्य विशुद्ध ध्यान की निरोधक, महादुष्ट, आत्मा की शत्रु कामभावना और धनाभिलाषा को छोड़ देना चाहिए, क्योकि इनके त्याग करने से ही मनुष्यो को सुख की प्राप्ति होती है।

पंचेन्द्रियजन्य विषयभोगों की अभिलाषा और धनोपार्जन करने की चिन्ता, धन की ममता, धन-सरक्षण की भावनाएँ निर्मल शुद्ध आत्मध्यान में विघ्न उपस्थित करती हैं। ये आत्मा की परम शत्रु हैं, क्योंकि जब कोई आत्मा ध्यान करने का प्रयत्न करती है तब कामभोग और धन सम्बन्धी विचार आकर ध्यानमय परिणति को नष्ट कर देते हैं। जब इन सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध नहीं रहता है तो मन अपने आप बाह्य से हटकर अपने में स्थिर हो

जाता है, जैसे वायु के अभाव में पानी स्थिर हो जाता है। अतएव जो मानव आत्मानन्द के इच्छुक हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे कामभोग और धनोपार्जन की लिप्सा को छोड़कर अपने आप में रमण कर निराकुल नित्य आत्मीय सुख को प्राप्त करने का सद् प्रयत्न करें ॥109॥

नरक में पतन का कारण

कामदाहो वरं सोढुं, न तु शीलस्य खण्डनम्।
शीलखण्डनशीलानां, नरके पतनं ध्रुवम्॥110॥

काम के चाह की दाह को सहन कर लेना अच्छा है परन्तु ब्रह्मचर्य का खण्डन करना अच्छा नहीं है। क्योकि शील-खण्डन करने वाले का निश्चय से नरक् में पतन होता है।

कामवासना अग्नि से भी अधिक भयंकर दावानल है। अग्नि तो बाह्य पौद्गलिक पदार्थों का ही दहन करती है परन्तु कामरूपी अग्नि तो आत्मीय गुणो को भी भस्म कर देती है। इस कामाग्नि को सहन कर अपने शील की रक्षा करना ही श्रेयस्कर है, क्योकि जो कामाग्नि से झुलसकर ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन कर देते हैं, उनको निश्चय से नरक मे जाना पड़ता है और वहाँ की मरण, ताडन, भूख, प्यासादि की घोर वेदना सागरों पर्यन्त भोगनी पडती है। अत: आत्मध्यान, ज्ञान, वैराग्य रूपी जल से कामाग्नि को शान्त कर अपने को दुर्गति के दु:खो से बचाना चाहिए॥110॥

कामसेवन महापाप का जन्मदाता है

कादामहः सदा नैव, स्वल्पकालेन शाम्यति।
सेवनाच्च महापापं, नरकावर्त-पातनम्॥111॥

काम की दाह हमेशा नहीं रहती, अपितु स्वल्पकाल में शान्त हो जाती है, मिट जाती है, परन्तु कामसेवन से महापाप का बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप नरक रूप गड्डे में गिरना पड़ता है।

(स्त्री-पुरुष) वेद नोकषाय की उदीरणा वा तीव्र उदय से कामाग्नि उत्पन्न होती है, जिसको मैथुन संज्ञा कहते हैं। वह मैथुन संज्ञा एक अन्तमुहूर्त से अधिक एक सी नहीं रहती है। थोडे काल में अन्य कार्यों मे उपयोग लग

जाने से वेद का उदय मन्द हो जाने से कामदाह शान्त हो जाती है। अतः अपने उपयोग को ज्ञान-ध्यान मे लगाकर कामदाह को शान्त करना अच्छा है। उसे मिटाने के लिये स्त्रीसेवन कर महापाप का बन्ध करना उचित नहीं है, क्योंकि एक तो स्त्रीसेवन से कामदाह मिटती नहीं है, प्रत्युत् अधिक ज्वाला निकलती है, जैसे अग्नि मे घी की आहुति देने से अग्नि ज्वाला अधिक भभकती है। दूसरे स्त्रीसेवन के महापाप से नरक मे जाकर महादुःख भोगना पड़ता है॥111॥

कोटि भव की वेदना

सुतीव्रेणापि कामेन, स्वल्पकालं तु वेदना।
खण्डनेन तु शीलस्य, भवकोटिषु वेदना॥112॥

हे आत्मन्! अतितीव्र काम की दाह से तो थोड़े ही काल तक वेदना होती है परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत को खण्डित कर देने से करोड़ों जन्मों में वेदना सहन करनी पड़ती है।

वही मानव ज्ञानी वा विवेकशील है जो अधिक कष्टों को बचाकर थोडे कष्टों का सामना करता है। इसी प्रकार नरक की महावेदना से बचने के लिये स्वल्पकाल के लिये होने वाली काम-वेदना को सहन करना श्रेयस्कर है। क्योकि शील-खण्डन करने पर जन्म-जन्मान्तरों मे सासारिक यातनायें सहन करनी पड़ती हैं। अतः ज्ञानियों का कर्त्तव्य है कि वे काम की वेदना को ज्ञान के द्वारा शमन करने का प्रयत्न करें॥112॥

8. काम-शमन का उपाय

ज्ञानोपयोग से काम-शमन

नियमं प्रशमं याति, काम दाहः सुदारुणः।
ज्ञानोपयोग-सामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा॥113॥

जैसे मत्रपदों के द्वारा सर्प का विष उतर जाता है वैसे ही ज्ञानोपयोग की सामर्थ्य से सुदारुण कामदाह नियम से शान्त हो जाता है।

काम की तीव्र दाह को शान्त करने का उपाय है-तत्त्वज्ञान के साथ आत्मचिन्तन, वस्तु-स्वभाव का मनन, ससार की असारता का विचार। तत्त्वज्ञान

में बड़ी शक्ति है। यह ज्ञान क्षण भर में भावो को पलट देता है। कामी, दुराचारी मानव भी एक क्षण मे सदाचारी बन जाता है। अतः कामदाह को मिटाने का अमोघ उपाय है ज्ञानाभ्यास ॥113॥

काम-शमन का दूसरा उपाय कामसेवन का त्याग

असेवनमनङ्गस्य, शमाय परमं स्मृतम्।
सेवनाच्च परा वृद्धिः, शमस्तु न कदाचन ॥114॥

आचार्यदेव ने काम का सेवन नहीं करना ही काम-शमन का परम उपाय कहा है, क्योकि कामसेवन से काम का शमन कभी नहीं हो सकता, अपितु कामभाव की अधिक वृद्धि ही होती है।

जैसे अग्नि का शमन घी, लकड़ी आदि पदार्थों की आहुति देने से नहीं होता, उन पदार्थों के डालने से तो अग्नि विशेष प्रज्ज्वलित होती है, उस अग्नि को बुझाना हो तो घी आदि पदार्थों का डालना बन्द करना पड़ेगा तभी अग्नि शान्त होगी। उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न काम की दाह कामसेवन से नहीं मिटती, अपितु कामसेवन से कामाग्नि विशेष रूप से भभकती है। आचार्य देव कहते हैं कि कामाग्नि को शान्त करने का उपाय है कामसेवन का त्याग। अतएव ज्ञान-वैराग्य की भावना से काम-वेदना को मिटाना श्रेयस्कर है, स्त्री आदि का सेवन कर कामाग्नि बढाकर आकुल-व्याकुल होना उपयुक्त नहीं है ॥114॥

कामशमन के अन्य उपाय

उपवासोऽवमौदर्य, रसानां त्यजनं तथा।
अस्नानसेवनं चैव, ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥115॥
असेवेच्छानिरोधस्तु, निरनुस्मरणं तथा।
एते हि निर्जरोपाया, मदनस्य महारिपोः ॥116॥

उपवास, अवमौदर्य, रसो का त्याग, स्नान नहीं करना, ताम्बूल खाने का त्याग करना, कामभाव पूर्वक स्त्रियों की सेवा नहीं करना, इच्छाओं का निरोध करना और कामभोग का बार-बार स्मरण नहीं करना, ये ही काम रूपी महाशत्रु के निर्जरा के उपाय हैं।

कामभाव जागृत होने में दो कारण हैं—बाह्य और अन्तरंग। अन्तरंग कारण है-कामवेद कषाय की उदीरणा और बाह्य कारण है खान-पान, मानसिक विचार और स्त्रियों वा दुराचारी पुरुषों की संगति। बाह्य कारण ही अन्तरंग कारणों को जागृत करते हैं। अतएव कामशत्रु को जीतने के लिये जिन बाह्य कारणों से कामवासना जागृत होती है उनका त्याग कर कामवासना को शान्त करने वाले कारणों मे प्रवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति बाह्य कारणो से ही होती है, अन्तरग कारणों से नहीं। आचार्यदेव ने कतिपय बाह्य कारणों का वर्णन किया है।

रोटी, दाल, भात आदि पदार्थों को खाद्य कहते हैं, जिनका चर्वण कर स्वाद लिया जाता है, ऐसे इलायची आदि पदार्थों को स्वाद्य कहते हैं। अंगुली आदि से चाटने योग्य कढी चटनी आदि लेह्य हैं और दूध, पानी, शर्बत आदि को पेय कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों पदार्थों के सेवन का त्याग कर धर्मध्यान में समय व्यतीत करने को उपवास कहते हैं। भूख से कुछ कम खाना, पेट भरकर नहीं खाना अवमौदर्य वा ऊनोदर कहलाता है। दूध, दही, घी, मीठा, तेल, नमक इन छहों रसों का वा इनमें से कुछ एक दो रसों का त्याग करना रसत्याग तप कहलाता है। उपवास, अवमौदर्य और रसपरित्याग से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं तथा कामवासना जागृत नहीं होती। जैसे-तेल के अभाव में दीपक की लौ बुझ जाती है।

तैल, उबटन, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों को लगाकर मल-मलकर स्नान करने से कामभाव की उत्पत्ति होती है अत: काम पर विजय प्राप्त करने के लिये इस प्रकार के स्नान करने का त्याग करना चाहिए। ताम्बूल कामभाव को जागृत करने वाला पदार्थ है अत: ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिये ताम्बूल खाने का त्याग करना चाहिए। स्त्रियों के साथ वार्त्तालाप करने से, निरन्तर उनके साथ रहने से मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, अत: कामवासना का विनाश करने के लिये स्त्रियों के साथ गमनागमन, वार्तालाप आदि करना छोड़ना चाहिए।

कामसेवन की इच्छा का निरोध करने से भी कामवासना उत्पन्न नहीं होती, अतः इच्छाओं का निरोध करना चाहिए। पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण वा काम सम्बन्धी वार्तालाप करने से भी कामाग्नि प्रज्ज्वलित होती है अतः पूर्व भोगों का स्मरण नहीं करना भी कामवेदना के शमन का उपाय है। एकान्त में स्त्रियों के साथ नहीं उठना-बैठना, उनसे हास्यमिश्रित वार्तालाप नहीं करना, अपने शरीर को श्रृंगारित नहीं करना, मन को किसी कार्य में लगाये रखना क्योंकि खाली मन शैतान का घर होता है, इत्यादि कामोत्पादक बाह्य कारणों का त्याग कर, कामवासना नाशक उपवास, स्वाध्याय आदि कार्यों में प्रवृत्ति कर कामवासना का शमन करना चाहिए॥115-116॥

काम, क्रोध, मान, मोह को जीतने का उपाय

काममिच्छानिरोधेन, क्रोधं च क्षमया भृशं।
जयेन्मानं मृदुत्वेन, मोहं संज्ञानसेवया॥117॥

इच्छा-निरोध से काम को, क्षमा भाव से क्रोध को, मृदुता से मान को और सम्यग्ज्ञान की आराधना से मोह को जीतना चाहिए।

जब कामवासना जागृत होती है, उस समय तत्त्व-विचार करके उस वासना की इच्छा का निरोध करना चाहिए, जैसे वायु के वेग को रोकने के लिये खिड़की बन्द कर दी जाती है। यह काम आत्मा का शत्रु है, इसके वशीभूत हुआ प्राणी ससार मे भटकता रहता है। कामभावना से ही रावण का पतन हुआ था। जब कभी क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त मिलते हैं तब सहनशीलता पूर्वक क्षमा भाव से क्रोध को जीतना चाहिए, क्योकि क्रोध ही अनर्थ की खान है, क्रोध के कारण ही द्वारिका भस्म हुई थी।

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, देह-सौन्दर्य आदि को प्राप्त कर अहंकार नहीं करना चाहिए क्योकि अहकार सम्यग्दर्शन का घातक है। जिन ज्ञानादि का मानव घमण्ड करता है, वे वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं। अतः मार्दव भाव के द्वारा मान का खण्डन कर विनयशील बनना चाहिए।

जब सासारिक पदार्थों के प्रति मोह-ममता मूर्च्छा उत्पन्न होती है तब तत्त्वों के स्वरूप का चिन्तन कर ममता का विनाश करना चाहिए। यह ममता ही संसार में भटकाने वाली है॥117॥

सम्यक्चारित्र धारण करने की प्रेरणा

तस्मिन्नुपशमे प्राप्ते, युक्तं सद्व्रतधारणम्।
तृष्णां सुदूरतस्त्यक्त्वा, विषान्नमिव भोजनं॥118॥

कामभाव के शान्त हो जाने पर विषमिश्रित अन्न (भोजन) के समान तृष्णा को दूर से छोड़कर सम्यक्चारित्र धारण करना योग्य है।

जब तक कामवासना शान्त नहीं होती, तब तक विषयों की अभिलाषाएँ मिट नहीं सकतीं और विषयाभिलाषा मिटे बिना व्रत धारण करने की योग्यता नहीं आ सकती। अत: आचार्यदेव ने कहा है कि सर्वप्रथम छह प्रकार के बाह्य तपों तथा इच्छानिरोध के द्वारा कामाग्नि को शान्त करना चाहिए क्योंकि कामवासना के शान्त हो जाने पर पंचेन्द्रियजन्य विषयाभिलाषा वा तृष्णा स्वयमेव शान्त हो जाती है तथा कामविजयी और पंचेन्द्रियविषयविजयी सम्यक्चारित्र को धारण करने का पात्र हो जाता है। जैसे विष-मिश्रित भोजन को प्राणघातक समझकर उसको दूर से ही छोड़ देते हैं, वैसे ही ज्ञानीजन विषयवासनाओ को दुर्गति का कारण समझ कर दूर से ही छोड़ देते हैं। आत्मरस का संवेदन कर तथा तृष्णा का दमन कर सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए॥118॥

चारित्र का सार

कर्मणां शोधनं श्रेष्ठं, ब्रह्मचर्यं सुरक्षितं।
सारभूत चरित्रस्य, देवैरपि सुपूजितम्॥119॥

कर्मो का क्षय करने वाले चारित्र का सार है-देवो के द्वारा आदरणीय उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करना।

ब्रह्म का अर्थ है सिद्ध स्वरूप आत्मा और चर्य का अर्थ है-रमण अर्थात् बाह्य पदार्थों मे रमण का परित्याग कर परम ब्रह्म परमात्मा स्वरूप अपनी आत्मा में रमण करना निश्चय से ब्रह्मचर्य है। व्यवहारनय से स्त्री मात्र का त्याग करना ब्रह्मचर्यव्रत है। यह ब्रह्मचर्य व्रत ही सर्व व्रतों का सारभूत है।

ब्रह्मचर्य व्रतधारी के चरणों में देवगण नमस्कार करते हैं, सर्प भी हार बन जाता है, अग्नि का जल हो जाता है और जल का स्थल हो जाता है। इस व्रत की महिमा अगम्य है। यह व्रत अंक के समान है और शेष व्रत शून्य के समान हैं। जैसे अक के बिनाशून्य का कोई मूल्य नहीं होता परन्तु अक के साथ होने से उसे दस गुणा करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के साथ अन्य व्रत सारभूत होते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना सब निस्सार है। इस व्रत के प्रभाव से कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा जानकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर मानवजीवन को सफल बनाना चाहिए॥119॥

7. स्त्रियों का स्वरूप

प्रमदा वैतरणी तुल्य है

या चैषा प्रमदा भाति, लावण्यजलवाहिनी।
सैषा वैतरणी घोरा, दु:खोर्मि-शतसंकुला॥120॥

अपने सौन्दर्य रूपी जल से भरी हुई यह प्रमदा रूपी नदी हजारो दु:ख रूपी तरंगों से व्याप्त भयानक नरक की वैतरणी नदी के समान प्रतीत होती है।

सौन्दर्य की खान, अत्यन्त रूप-लावण्य से युक्त ललना को देखकर अज्ञानी जन उस पर मोहित हो जाते हैं और अपने स्वरूप को भूलकर कामुक बन जाते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि वह स्त्री नहीं अपितु नरक की भयकर वैतरणी नदी है। जैसे वैतरणी नदी कृमिकुल से भरी हुई है और उसमें स्नान करने वाले नारकी को तीव्र वेदना होती है, उसी प्रकार इस नारी रूपी वैतरणी नदी मे अवगाहन करने से नरकादि की तीव्र वेदना का अनुभव करना पड़ता है। जितना-जितना वैतरणी नदी तुल्य स्त्री-सुख में डूबा जाता है, उतना-उतना कामदाह अधिक होता जाता है और यह प्राणी स्त्री के मोह के कारण मोक्ष का मार्ग नहीं साध पाता है, अत: मोक्षमार्ग की बाधक सारे दु:खों की खान-स्त्री है॥120॥

दुःखों की खान स्त्री संसार की बीजभूत है

संसारस्य व बीजानि, दुःखानां राशयः पराः।
पापस्य च निधानानि, निर्मिताः केन योषितः ॥121॥

संसार की उत्पत्ति के लिये बीजभूत, दुःखो की उत्कृष्ट राशि और पापो की भण्डार रूप इन स्त्रियों को किसने बनाया है ?

ससार की वृद्धि स्त्री के निमित्त से होती है—क्योकि ससार परिभ्रमण का कारण मोह है। मोह का मुख्य कारण है कामिनी। इस कामिनी के लिये ही संसारी प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह रूप पाप मे प्रवृत्ति करते हैं। अतः स्त्री पाप की खान है। स्त्री के निमित्त से ही अनेक प्रकार के दुःख उठाने पडते हैं अर्थात् स्त्री के कारण ही इष्टवियोग, शारीरिक रोग, मानसिक व्यथा आदि बहुत से कष्ट सहन करने पड़ते हैं। अत॰ कामिनी ही दुःखों की राशि है। स्त्री की ममता के कारण निरन्तर पापो का बन्ध होता है, अतः आचार्यदेव पूछते हैं कि दुःखों की खान आपत्तियो की जड़ इस स्त्री का निर्माण किसने किया ? ॥121॥

धन-यौवन-नाशक स्त्री

इयं सा मदनज्वाला, वह्नेरिव समुद्गता।
मनुष्यैर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च॥122॥

अग्नि के समान समुद्भूत (उत्पन्न) यह वह काम की ज्वाला है, जिसमे मानवो के द्वारा धन और यौवन होमे जाते हैं, भस्म कर दिये जाते हैं।

कामाग्नि की ज्वाला से झुलसा हुआ प्राणी वेश्या वा परस्त्रीगामी बन जाता है तथा अपनी स्त्री मे अति-आसक्त होकर अपनी शारीरिक शक्ति नष्ट कर वृद्ध के समान अत्यन्त निर्बल बन जाता है और धन का नाशकर निर्धन बन जाता है, धर्म-कर्म को भूल जाता है, जैसे-चारुदत्त सेठ।

कामी मानव अपना सर्वस्व खोकर दीन-हीन बन नरक में चला जाता है, जैसे-रावण ॥122॥

स्त्री नरक गर्त में गिराने वाली है

नरकावर्तपातिन्यः, स्वर्गमार्ग - दृढार्गलाः।
अनर्थानां विधायिन्यो, योषितः केन निर्मिताः ॥123॥

नरक के गड्डे में गिराने वाली, स्वर्ग के मार्ग को रोकने के लिये दृढ़ अर्गला के समान और अनेक आपत्तियों को देने वाली इस स्त्री को किस विधाता ने बनाया है ?

वनिता की आसक्तिवश प्राणी धर्म-कर्म को भूल जाता है। विषय-वासना मे फॅसकर नरक मे जा गिरता है अतः स्त्री को नरक के गड्ढे मे गिराने वाली कहा गया है। स्त्रियो की ममता के कारण जो पुरुष अशुभ कार्यों में लीन हो जाता है और शुभ कार्यों को भूल जाता है, वह स्वर्गगामी नहीं बन सकता, इसलिए स्त्री को स्वर्ग के मार्ग को रोकने वाली अर्गला वा भीत कहा जाता है। स्त्री के कारण यह मानव अनेक शारीरिक, मानसिक कष्टो को सहन करता है, अतः स्त्री को अनेक आपत्तियों का स्थान कहा है। आचार्य पूछते हैं ऐसी स्त्री का निर्माण किसने किया ॥123॥

स्त्रियो के शरीर मे सौन्दर्य का अभाव

कृमिजालशताकीर्णे, दुर्गन्ध - मल - पूरिते।
त्वङ्मात्र संवृते स्त्रीणां, का काये रमणीयता ॥124॥

कीडों के समूह से भरे हुए, दुर्गन्धित मल से परिपूरित और मात्र चमडे से ढके हुए स्त्रियों के शरीर मे क्या सुन्दरता है ?

स्त्रियो का शरीर ऊपर से चमडी का ढका हुआ सुन्दर दिखाई देता है परन्तु भीतर में मल, मूत्र, पीप, मज्जा और कीड़ो से भरा हुआ है, दुर्गन्धमय है। ऐसे शरीर में मूर्ख प्राणी क्यो रमण करता है ? इसमे इन मूढ़ प्राणियो को क्या रमणीयता प्रतीत होती है। जिसके देखने मात्र से घृणा हो जाती है ऐसे शरीर में न तो कोई सुन्दरता है और न वह सेवन करने योग्य है। अतएव स्त्री मे राग करना उभय लोक को बिगाड़ना है ॥124॥

इस प्रकार स्त्रियों के स्वरूप का वर्णन समाप्त हुआ।

10. वैराग्य सुख का कारण है

अहो ते सुखितां प्राप्ता, ये कामानलवर्जिताः।
सद्वृत्तं विधिना पाल्यं, यास्यन्ति पदमुत्तमम्॥125॥

हे आत्मन्! जो काम रूपी अग्नि से रहित हैं अर्थात् जिनका हृदय काम रूपी अग्नि से नहीं झुलसा है-वे ही सुख-अवस्था को प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही प्राणी विधिपूर्वक समीचीन चारित्र का पालन कर उत्तम पद को प्राप्त करेंगे।

जिन्होंने ज्ञान रूपी जल के द्वारा कामानल को शान्त कर दिया है और बाह्य मे भावपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनके ही जीवन मे निराकुलता आती है तथा आत्मानुभव की वृद्धि होने से उनका निश्चय चारित्र की ओर झुकाव होता है। वे अपने आप में रमण करने लगते हैं और शीघ्र ही कर्मों का क्षय कर मुक्त हो जाते हैं॥125॥

भोगार्थी कौन सा अनर्थ नहीं करता

भोगार्थी य करोत्यज्ञो, निदानं मोहसंगतः।
चूर्णीकरोत्यसौ रत्नं, अनर्घसूत्रहेतुना॥126॥

भोगो को चाहने वाला जो अज्ञानी मोह के सयोग से मोही होकर धर्म का पालन करके भी आगामी भोगों की वाछा करता है, वह मानों तुच्छ सूत्र (डोरा) के लिये रत्नों के हार का चूर्ण करता है अर्थात् हार को तोड़ता है।

वह मानव मूर्ख है जो सूत के धागे के लिये रत्नो की माला से रत्नों का चूरा करके फेंक दे और अकेले (डोरा) को ग्रहण कर ले। इसी प्रकार मानव जैसी उत्तम पर्याय रूप रत्नों के हार को प्राप्त करके भी जो कोई पचेन्द्रिय-विषयभोग रूप सूत्र को प्राप्त करने के लिये उसे नष्ट कर देते हैं, अर्थात् त्याग-सयम रूप रत्नो का नाश कर भोगों मे रम जाते हैं, वा रत्नत्रय का पालन करके भी आगामी भोगों की अभिलाषा के कारण मोह के वश होकर निदान बन्ध करते हैं, वे रत्नत्रय के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाले मोक्ष का नाशकर अपने संसार की ही वृद्धि करते हैं। **भोग बुरे भव-रोग बाढ़वें**

वैरी हैं जग जी के। ये भोग बुरे हैं, भव-रोग को बढ़ाने वाले हैं तथा जगत् के जीवों के शत्रु हैं। ज्ञानी मानव संसारवर्द्धक एवं नाशवन्त भोगो के प्रति अनुराग नहीं करता। वह तो वैराग्य से अनुराग करता है तथा मुक्ति के अनुपम निराकुल सुख की भावना करते हुए जिनधर्म की आराधना करता है, सासारिक भोगों की अभिलाषा रूप निदान नहीं करता ॥126॥

निरन्तर मनन करने योग्य

भव-भोग-शरीरेषु, भावनीयः सदा बुधैः।
निर्वेदः परया बुद्ध्या, कर्मारातिजिघृक्षुभिः ॥127॥

कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले बुद्धिमानो को उत्कृष्ट बुद्धि के द्वारा निरन्तर संसार, शरीर और भोगो मे निर्वेद (वैराग्य) भाव का मनन करना चाहिए।

ससाराटवी मे भटकाने वाले और आत्मीय ज्ञान-धन को चुरा कर आत्मा को निर्धन बनाने वाले कर्म ही आत्मा के परम शत्रु हैं। उन शत्रुओ के आगमन का कारण है-विषयाभिलाषा और कषाय। जिन्होने विषयाभिलाषा और कषायो पर विजय प्राप्त की है, वे ही कर्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए सन्त पुरुषो को कर्मों पर विजय प्राप्त करने के लिये बडी बुद्धिमानी के साथ ससार, शरीर और भोगो के प्रति निर्वेद भावना भानी चाहिए। अर्थात् बार-बार यह विचार करना चाहिए कि संसार असार हे, दु:खमय है एव आकुलता का स्थान है। यह भौतिक शरीर विनाशीक है, अपवित्र है, मलमूत्र का घर है तथा जन्म मरण आदि दु:खों का मूल कारण है। इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारी हैं, तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं। "**ज्यों-ज्यों भोग संयोग मनोहर मन वांछित जन पावे, तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके लहर जहर की आवे।**" जैसे-जैसे पचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति होती है, वैसे-वैसे तृष्णा नागिन विशेष रूप से विष के डंक मारती है। तृष्णा विष के समान आत्मघातक है, अत: यह छोड़ने योग्य है। जैसे एक म्यान में दो तलवारे नहीं रहतीं, उसी प्रकार संसार, शरीर और भोगो से विरक्त हुए बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती ॥127॥

करने योग्य कर्त्तव्य

यावन्न मृत्युवज्रेण, देहशैलो निपात्यते।
नियुज्यतां मनस्तावत्, कर्मारातिपरिक्षये॥128॥

हे आत्मन्! जब तक तेरा यह शरीर मृत्यु रूपी वज्र से नहीं गिराया जा रहा है, तब तक तू कर्मरूपी शत्रुओ का नाश करने मे अपना मन लगा, अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओ के नाश करने का उद्योग कर।

वीर योद्धा उस समय तक बराबर प्रयत्नशील रहता है, जब तक कि अपने शत्रु का जड़मूल से नाश नहीं कर डालता। इसी प्रकार कर्मरूपी शत्रु के क्षय के लिये ज्ञानी को निरन्तर अपना मन लगाना चाहिए तथा आत्मध्यान का ऐसा अभ्यास करना चाहिए, जिससे वीतरागता प्रकट हो, क्योंकि वीतराग भाव ही कर्मों के विनष्ट करने मे कारण है। यह काम जितनी जल्दी सम्भव हो, कर लेना चाहिए। मानवदेह के रहते हुये ही कर्मों क्षय हो सकता है। मरण के आने का निश्चय नहीं है अतएव मृत्यु आने के पहले ही शीघ्रातिशीघ्र आत्महित का प्रयत्न करना चाहिए॥128॥

त्यज कामार्थयोः संगं, धर्मध्यानं सदा भज।
छिन्धि स्नेहमयान् पाशान्, मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्॥129॥

हे आत्मन्! इस दुर्लभ मानव-भव को प्राप्त कर कामभोग और परिग्रह के सग (आसक्ति) को छोड, निरन्तर धर्मध्यान का सेवन कर और स्नेहमयी पाश (जाल) को छेद।

मानव-जन्म का मिलना बहुत दुष्कर है। नर-जन्म को पाकर वह प्रयत्न करना योग्य है जिससे धर्मध्यान हो सके, आत्मानन्द मिल सके और उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम पद प्राप्त हो सके। इसलिए द्रव्योपार्जन करने और भोग भोगने का साधन जो गृहस्थ जीवन है उसका त्याग किया जाए, कुटुम्ब परिवार तथा मित्रादि से स्नेह तोड़ दिया जाए, पूर्ण वैराग्यवान होकर निश्चिन्तता के साथ निज आत्मा का ध्यान किया जाए। धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक हो सकता है, जो आजकल सम्भव है। इसलिए त्याग-भाव धारण कर आत्मध्यान का अभ्यास करना योग्य है॥129॥

कथं ते भ्रष्टसद्वृत्त! विषयानुपसेवते।
पञ्चतां हरतां तेषां, नरके तीव्रवेदना॥130॥

"यह श्लोक अशुद्ध सा प्रतीत होता है, अतः इसका भावार्थ लिखा जाता है।"

भ्रष्ट किया है समीचीन आचरण-चारित्र को जिन्होंने, ऐसे ये ससारी प्राणी पचेन्द्रियो के विषयो का सेवन क्यो करते हैं ? और मृत्यु होने पर नरक की तीव्र वेदना क्यो सहन करते हैं ?

सद्व्रतो से वा सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर संसारी प्राणी विषयवासनाओ मे लिप्त हो जाते हैं तथा कृष्ण, नील एव कापोत लेश्यामय परिणामो से युक्त होकर नरक में जाते हैं और वहाँ की तीव्र वेदना सहन करते हैं। आचार्य आश्चर्य के साथ कहते हैं कि ये ससारी प्राणी, नरक की तीव्र वेदना के कारणभूत विषयवासनाओ में अनुरक्त क्यो होते हैं ? आत्म-साधना कर आत्मोत्थान क्यो नहीं करते ?॥130॥

नारकीय वेदना का कारण

सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां, विषयासंगसंगिनाम्।
तेषामिहैव दुःखानि, भवन्ति नरकेषु च॥131॥

जिनका मन सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है तथा जो इन्द्रिय विषयो में आसक्त हैं, उनको इस लोक मे भी दुःख ही प्राप्त होता है तथा वे मर कर भी नरक मे जाकर महान् दुःख भोगते हैं।

जो मानव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग से च्युत होकर मिथ्यात्व के कीच मे फँसकर निरन्तर इन्द्रियो के विषयो मे तल्लीन रहते हैं, वे यहाँ भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ा-चिन्तन और निदान-बन्ध इन चार प्रकार के आर्त्तध्यान से पीड़ित रहते हैं, शारीरिक तथा मानसिक पीड़ाओं से दुखित रहते हैं, तृष्णा की दाह से जलते रहते हैं और मरकर परलोक में नरक के गड्ढे मे गिरकर भूख, प्यास, मारण-ताड़न आदि अनेक दुःखो को सहन करते हैं। इसलिये ज्ञानीजनो को संसार, शरीर और

भोगों से विरक्त होना चाहिए। यदि शक्य हो तो सर्वथा विषयों का त्याग कर मुनिव्रत धारण करना चाहिए। यदि शक्य नहीं हो तो घर में रहकर इच्छाओं को कम करके आत्मसवेदन करते हुए, सन्तोषपूर्वक न्यायोपार्जित भोग भोगते हुए मुनिधर्म मे अनुराग रखते हुए, अहिसादि 12 व्रतों का पालन करते हुए ज्ञान, ध्यान में रहने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ज्ञान और ध्यान ही कर्म-निर्जरा के कारण हैं ॥131 ॥

अपने को ठगने वाला

विषयास्वादलुब्धेन, रागद्वेषवशात्मना।
आत्मा च वंचितस्तेन, यः शमं नापि सेवते ॥ 132 ॥

जो मानव विषयो के आस्वादन से लुब्ध होकर और रागद्वेष के वशीभूत होकर अपनी आत्मा को ठगते हैं, वे कभी शान्त भाव का सेवन कर सुख को प्राप्त नहीं कर सकते।

जो मानव मोक्षमार्ग से विमुख होकर इन्द्रियसुखों के स्वाद में लीन हो जाते हैं, वे इष्ट पदार्थों मे राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करके कर्मो का घोर बन्धकर इस ससार में दीर्घ काल तक भ्रमण करके बहुत कष्ट उठाते हैं। विषयों मे लुब्ध प्राणी अपने कल्याण के अवसर को खोकर अपने आप को धोखा देता है। इसलिए बुद्धिमानों को विषयसुख रूपी कौडी के लिये आत्मानन्द के अपूर्व लाभ को नहीं खोना चाहिए ॥132 ॥

कृत कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है

आत्मना यत्कृत कर्म, भोक्तव्य तदनेकधा।
तस्मात् कर्मास्त्रवं रुद्ध्वा, स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत् ॥ 133 ॥

अपने किये हुए जो कर्मबन्ध हैं, उनका फल अनेक प्रकार से भोगना पड़ता है, इसलिए कर्मों के आस्त्रव को रोककर अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहिए।

कर्मबन्ध के कारण ही आत्मा ससार में भटकता रहता है अत: सर्व प्रथम कर्मास्त्रव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मों का आस्त्रव विषय और

कषायों से होता है, क्योंकि इन्द्रियो और कषायों के आधीन होकर जीव अपने स्वभाव को भूल जाता है, राग-द्वेष में फंसकर अभक्ष्य भक्षण करता है और अन्याय में प्रवृत्ति करता है, अतः कर्मास्रव को रोकने के लिये अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहिए॥133॥

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा, स्वात्मानं वशमानयेत्।
येन निर्वाणसौख्यस्य, भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे॥134॥

हे भव्य! इन्द्रियों की इच्छाओं के विस्तार को रोककर अपनी आत्मा को अपने आधीन रख, जिससे तू निर्वाणसुख का पात्र हो जायेगा।

इन्द्रियो को और मन को वश मे करने से ही उपयोग अपने ही घर में-आत्मा के स्वभाव मे क्रीड़ा करने लगता है, तब सहज ही मे आत्मसुख का स्वाद आने लगता है। इसी आत्मस्थ वृत्ति का अभ्यास जितना-जितना बढता जाता है, उतना-उतना ही निर्वाण सुख निकट आता जाता है। पूर्ण वीतरागी होना ही निर्वाण का आधिपतित्व है। अतः इन्द्रियों के प्रसार को रोककर आत्मा का ध्यान करना चाहिए॥134॥

शान्ति नहीं मिलने का कारण

सम्पन्नेष्वपि भोगेषु, महता नास्ति गृद्धता।
अन्येषां गृद्धिरेवास्ति, शमस्तु न कदाचन॥135॥

विषयभोगों की पूर्णता होने पर भी उनमे महान पुरुषों की लोलपुता नहीं होती। अन्य मिथ्यादृष्टि जीवो की विषयभोगो मे लोलपुता होती ही है। उस लोलुपता के कारण उन मिथ्यादृष्टियों को सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं होती।

गृहस्थ अवस्था में रहने वाले धर्मात्मा जीवों को चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थकर आदि पद प्राप्त होते हैं। उनको इच्छित भोगों की सर्व सामग्री भी अनायास मिलती है।। वे उनमें न तो लोलुप होते हैं, न तृष्णा की दाह उत्पन्न करते हैं। वे आत्मानन्द में ही रुचि रखते हैं। चारित्र मोहनीय के उदयवश यद्यपि उन्हें इन्द्रियभोगो में प्रवृत्ति करनी पड़ती है किन्तु उनकी उनमें मूर्च्छा नहीं होती। वे

उन्हें त्यागने योग्य ही समझते हैं। ऐसी दशा में उनके आत्महित का विनाश नहीं होता, परन्तु मिथ्यादृष्टि को आत्मा सुख का विश्वास नहीं होता। वह इन्द्रियसुख को ही सुख समझता है। इसलिये भोग-सामग्री अल्प होने पर भी वह बड़ा लोलुप बना रहता है। विषय चाह की दाह मे वह सदा जलता हुआ कभी शान्ति नहीं पाता है॥135॥

चक्रवर्ती भी दीक्षा ग्रहण करते हैं

षट्खण्डाधिपतिश्चक्री, परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च, दीक्षा दैगम्बरी स्थिता॥136॥

छह खण्ड का स्वामी ज्ञानी, चक्रवर्ती सारी पृथ्वी को और सम्पूर्ण भोगो को तृणवत् तुच्छ जान कर छोड देता है और दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती षट्खण्ड के राज्य को भोगता हुआ भी उसमे लिप्त नहीं होता, उदासीन रहता है और निरन्तर यह भावना करता है कि वह सुअवसर कब प्राप्त होगा जिस दिन सारे वैभव का परित्यागकर मैं मुनिमुद्रा को धारण करुँगा। अत: एक दिन षट्खण्ड के राज्य को, सारी वसुन्धरा को तथा सर्व दिव्य अनुपम विषय-भोग सामग्री को तृण के समान त्याग कर शीघ्र ही मुनिव्रत को स्वीकार कर लेता है। चारित्रमोहनीय प्रत्याख्यानवरण कर्म के उदय से जब तक घर मे रहते हैं तब तक उदासीन रूप से भोग भोगते हैं, गृद्धतापूर्वक नहीं॥136॥

सम्यग्दृष्टि के विचार

कृमितुल्यै. किमस्माभिः, भोक्तव्यं वस्तु सुन्दरं।
तेनात्र गृहपकेषु, सीदामः किमनर्थकम्॥137॥

कीडो के समान हम लोगो को क्या मनोज्ञ पदार्थो का भोग करना चाहिए, जिससे इस लोक में गृहस्थपने की कीचड़ मे फसकर वृथा ही क्यों कष्ट उठाना पडे।

जिस प्रकार तुच्छ प्राणी इन्द्रियों के विषयो मे फसकर अपने प्राण खो देता है, इस लोक मे भी दु:खी होता है और परलोक मे भी दुर्गति में जाता है,

उसी प्रकार यदि मैं ज्ञानी आत्मा इन तुच्छ विषयों में फसकर मानव-भव को नष्ट करुँगा तो यहाँ पर भी गृहस्थी की कीचड़ में कष्ट का अनुभव करूँगा और विषयवासना की लोलुपता से पापकर्म बाँध कर परलोक में भी दु:खी बनूँगा। वासनाओं में फँसे हुए प्राणियो को कभी शान्ति नहीं मिल सकती है, यह अमूल्य मानव-जन्म व्यर्थ मे नष्ट हो जायेगा ॥137 ॥

कर्मशत्रुओं को जीतने का परामर्श

येन ते जनितं दु:खं, भवाम्भोधौ सुदुस्तरम्।
कर्मारातिमतीवोग्रं, विजेतुं किं न वाञ्छसि ॥138 ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि हे आत्मन्! जिसके कारण तुझे इस ससार रूपी समुद्र मे अतीव दुष्कर दु:ख प्राप्त हुए हैं, ऐसे अत्यन्त दु:ख देने वाले कर्म रूपी भयानक शत्रुओं को जीतने की इच्छा तुम क्यो नहीं करते हो ?

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य आत्मन्! इन कर्मों के संयोग से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूलकर तथा अविद्या और तृष्णा का दास बनकर इस अपार ससार-समुद्र मे भटकते हुए तूने शारीरिक और मानसिक आदि अनेक असह्य भयकर दु:ख उठाए हैं। इन कर्मों के जीतने का तुझे सुअवसर मिला है, क्योकि कर्मों का नाश करने की शक्ति मानव-पर्याय में ही होती है। अत: हे आत्मन्! यदि तू इन दुष्कर्मों से छूटना चाहता है वा संसार से भयभीत है, तो शीघ्र ही संयम और तप की आराधना करके कर्म शत्रुओं को निर्मूल करने का प्रयत्न कर। कर्मों का नाश हो जाने पर तू अविनाशी अविकारी शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्राप्त करेगा। यह मानव-पर्याय बडी कठिनता से प्राप्त होती है, जैसे समुद्र में गिरा हुआ सरसो का दाना। अत: इन कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने के लिये तू तप-सयम की साधना कर। जीवन की घड़ियो का एक क्षण भी सयम के बिना नहीं गवा ॥138 ॥

इससे बड़ा आश्चर्य क्या है

अब्रह्मचारिणो नित्यं, मांसभक्षण - तत्परा:।
शुचित्वं तेऽपि मन्यन्ते, किन्नु चित्रमत: परम् ॥139 ॥

आचार्य कहते हैं कि अब्रह्मचारी, नित्य मांसभक्षण करने में तत्पर मानव भी अपने को शुचि (पवित्र) मानते हैं, इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है।

इस कलिकाल के प्रभाव से जगत् की मोह-ममता में फँसे हुए, नित्य कुशील सेवन करते हुए और मांस भक्षण करने में तत्पर रहते हुए भी जीव अपने आपको पवित्र एवं महान मानते हैं। आचार्य कहते हैं-यह आश्चर्य की बात है कि जब मांसाहारी और कुशील का सेवन करने वाले मानव पवित्र हैं तो फिर अपवित्र किसको कहा जायेगा अर्थात् ऐसे दुराचारी मानव कभी पवित्र नहीं हो सकते और न वे मानव कभी आत्मीय सुख को प्राप्त कर सकते हैं ॥139॥

आत्मज्ञानी के करने योग्य कार्य

येन संक्षीयते कर्म, संचयश्च न जायते।
तदेवात्मविदा कार्यं मोक्षसौख्याभिलाषिणा ॥140॥

जिससे पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है और नवीन कर्मों का संचय नहीं होता है वही कार्य मोक्षसुखाभिलाषी आत्मज्ञानी मानव को करना चाहिए।

आत्मा के वास्तविक शत्रु है कषाय से अनुरजित मन-वचन-काय के द्वारा उपार्जित कर्म। जब तक जीव के साथ कर्मों का सयोग रहता है, तब तक जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता, पराधीन रहता है तथा शारीरिक एवं मानसिक दु:खों से व्याकुल रहता है, अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। जन्म-मरण की तरगों से व्याप्त इस संसार-समुद्र मे भटकता रहता है अत: नबीन कर्मों के निरोध (संवर) तथा पुरातन कर्मों के क्षय (निर्जरा) का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मों के सवर और निर्जरा के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धारण करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ॥140॥

11. चारों गतियों के दुःख-सुख

देवगति के सुख

अनेकशस्त्वया प्राप्ता, विविधा भोगसम्पदः।
अप्सरागणसंकीर्णे, दिवि देवविराजिते॥141॥

हे आत्मन्! अप्सराओ से भरे हुए और देवो से शोभित स्वर्ग में तूने अनेक बार नाना प्रकार की भोग-सम्पदा प्राप्त की है।

हे आत्मन्! इष्टवियोग, अनिष्टसयोगादि दुःखों से व्याप्त संसाराटवी मे भ्रमण करते हुए तूने पुण्योदय से स्वर्ग में जन्म लिया। वहाँ पर अनेक देव-देवागनाओं ने तेरी सेवा की। स्वर्ग मे दिव्य अप्सराओं के साथ अनेक बार दिव्य भोगों का तूने सागरों पर्यन्त अनुभव किया, फिर भी तुझे तृप्ति नहीं हुई, तृष्णा ज्वाला बढ़ती ही गई। जब स्वर्ग के भोगो से तृप्ति नहीं हुई तब मनुष्य पर्याय के भोगो से तृप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती॥141॥

नरक गति

पुनश्च नरके रौद्रे, रौरवेऽत्यन्तभीतिदे।
नानाप्रकारदुःखोघैः, संस्थितोऽसि विधेर्वशात्॥142॥

हे आत्मन्! तू अत्यन्त भयानक रौरव नामक कष्टप्रद नरक मे कर्मों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःखसमूह से घिरा हुआ भी रहा है।

हे भव्यात्मन्! जब तू मन-वचन-काय की कुटिलता के कारण हिसादि पापों के द्वारा कर्म-उपार्जन कर नरक के गड्ढे में गिरा तब तूने वहाँ अनेक प्रकार के दुःख सहन किये। नरक भूमि का स्पर्श करने से ही इतना दुःख होता है जितना दुःख यहाँ पर हजार बिच्छुओं के काटने से भी नहीं होता। तूने भूख-प्यास की वेदना, परस्पर मारण-ताड़न, कुंभी पाक आदि अनेक कष्ट सहन किये हैं। तीसरे नरक तक असुरजाति के देव जाकर नारकियो को लड़ाते हैं। वहाँ की भूमि अत्यन्त दुर्गन्धमय है, पवन तीक्ष्ण है, वृक्ष काँटेदार पत्तों वाले हैं जिनके लगते ही शस्त्र की चोट के समान शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। नरक मे कोई भी वस्तु सुखप्रद नहीं है। शास्त्रों में जो नरकों के

दु:खो का वर्णन किया है, उसको सुनने मात्र से हृदय काँप जाता है। जो नरक में दु:ख भोगते हैं, उन पर क्या बीतती है, इसे या तो वह नारकी स्वयं जानता है या फिर केवली भगवान्। हे आत्मन्! इस नरक पर्याय में तूने सागरों पर्यन्त दु:ख भोगे हैं। हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रूप चार प्रकार के रौद्र ध्यान मे फँस कर तू नरक में गया और अनन्त दु:खों का भोक्ता बना है॥142॥

नरकों के दु:ख

तप्ततैलिकभल्लीषु, पच्यमानेन यत्त्वया।
संप्राप्तं परमं दु:खं, तद्वक्तुं नैव पार्यते॥143॥
नानायंत्रेषु रौद्रेषु, पीड्यमानेन वह्निना।
दु:सहा वेदना प्राप्ता, पूर्वकर्मनियोगत:॥144॥

हे आत्मन्! गर्म-गर्म तेल के कढ़ाहो में पकाए जाने से जो महान् दु:ख तूने प्राप्त किया है, उन दु:खो का कथन करना शक्य नहीं है।

पूर्व मे बाँधे हुए कर्मों के उदय से, भयानक नाना प्रकार के यन्त्रो मे अग्नि के भयानक आताप से तुझे दु:सह वेदना प्राप्त हुई है।

नरकों के दु:ख अति भयावह हैं। गर्म-गर्म तेल के कढाहों मे नारकियो को डाल देते हैं। उसमे पकते हुए नारकी को असह्य वेदना सहन करनी पडती है। उन दु:खो के वर्णन करने की सामर्थ्य मनुष्यो मे नहीं है। नरक में भोगे हुए दु:खों को यह प्राणी भूल जाता है। यदि उन दु:खों का यहाँ स्मरण हो जाये तो शस्त्र के काटे हुए के समान शरीर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

तीव्र पाप कर्म के उदय से नरक मे पडे हुए नारकी को बड़े भारी लोहे के गर्म यन्त्रों मे पेलते हैं, तब अग्नि की गर्मी से उनको घोर कष्ट होता है जिसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है॥143-44॥

मनुष्य गति में गर्भ के दु:ख

विण्मूत्रपूरिते भीमे, पूतिश्लेष्मवसाकुले।
भूयो गर्भगृहे मातुर्दैवाद्यातोऽसि संस्थितिम्॥145॥

हे आत्मन्! कर्मयोग से नारकीय वेदना का अनुभव कर तू विष्टा और मूत्र से परिपूर्ण, भयानक पीप, कफ, चर्बी से भरे हुए माता के गर्भगृह (उदर) मे आकर पड़ा अर्थात् तुझे गर्भ योनि में ठहर कर समय बिताना पड़ा।

इस ससार में भ्रमण करते हुए हे आत्मन्! तूने यदि मानव पर्याय का (आयु) बन्ध किया तो उसके फलस्वरूप माता के उदर में नौ महीने तक उलटा लटका रहा। गर्भ स्थान अपवित्र है, दुर्गन्धमय है, मलमूत्र, पीप चर्बी आदि अशुचि पदार्थों की खान है। गर्भ अवस्था में जो कष्ट होते हैं, वे अकथनीय हैं। ऐसे अपवित्र स्थान में तूने घोर वेदना सही है। नौ महीने बाद गर्भ से निकला तो निकलते समय घोर वेदना हुई। फिर इस पर्याय में इष्टवियोग, अनिष्ट-सयोग, पीड़ा-तृष्णा के कारण तूने घोर दु:ख उठाये, उनका स्मरण भी दु:खद है। रोग, शोक, दारिद्र्य आदि दु:खो से भरी हुई मानव-पर्याय मे तुझे क्षण भर भी शान्ति नहीं मिली ॥145॥

तिर्यंच गति के दु:ख

तिर्यग्गतौ च यद् दु:खं, प्राप्तं छेदनभेदनैः।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं, जिह्वाकोटिशतैरपि ॥146॥

हे आत्मन्! तिर्यञ्च गति मे छेदन-भेदन के द्वारा तूने जो दु:ख प्राप्त किये हैं, उन दु:खों को कोई मानव करोडो जिह्वाओं के द्वारा कहने में भी समर्थ नहीं है।

तिर्यञ्च गति अनेक दु:खो की खान है। इसमें एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय मे जीव ने छेदन, भेदन, घर्षण आदि के अनेक दु:ख सहन किये हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय पर्याय मे गर्मी सर्दी, भूख-प्यास आदि के अनेक दु:ख सहन किये हैं। पंचेन्द्रिय पशु हुआ तो वध-बन्धन, भारवहन, भूख-प्यास, सर्दी गर्मी के अनेक दु:ख सहन किये हैं, एक क्षण भी सुख और शान्ति का जीवन नहीं जिया ॥146॥

संसार में कहीं भी सुख नहीं

संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं, यत्र प्राप्तमनेकधा।
देवमानवतिर्यक्षु, भ्रमता जन्तुनानिशं ॥147॥

तिर्यञ्च, देव, मनुष्य और नरक गति रूप संसार में निरन्तर भ्रमण करते हुए इस प्राणी ने ऐसा कोई सुख भी नहीं है जो अनेक बार प्राप्त नहीं किया हो।

नरक और तिर्यञ्च गति में तो दु:ख ही दु:ख हैं। मनुष्य गति सांसारिक सुख-दु:खों से मिश्रित है। देव गति में कुछ सुख है। उन क्षणिक सुखों को इस जीव ने अनन्त बार भोगा है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ पर इस जीव ने जन्म नहीं लिया हो। हे आत्मन्! दु:ख एव सुखाभास रूप संसार मे भ्रमण करते हुए ऐसी कोई पर्याय नहीं बची जिसे तूने प्राप्त नहीं किया हो ॥147॥

कर्मोदय से सुख-दु:ख की प्राप्ति

चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन्, संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदु:खान्यवाप्तानि, भ्रमता विधियोगत: ॥148॥

अत्यन्त भयदायक चतुर्गतिमय इस संसार मे कर्म-नियोग से भ्रमण करते हुए इस प्राणी ने अनेक सुख-दु:ख प्राप्त किए हैं।

हे आत्मन्! कर्मों के उदय के वशीभूत हुए तूने इस दु:खमय ससार में नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्यायों में भ्रमण कर अनेक प्रकार के दु:खों को प्राप्त किया है। निगोद से लेकर नव ग्रैवेयक पर्यन्त सुख-दु:खों का अनुभव किया है। सांसारिक दु:खों और सुखो मे कोई ऐसा सुख एव दु:ख नहीं बचा जिसका इसने अनुभव नहीं किया हो। यह जीव दु:खो से आकुलित रहा और सुख में उन्मत्त हुआ परन्तु इसे आज तक तृप्ति रचमात्र भी प्राप्त नहीं हुई। यह सदैव तृष्णा रूपी अग्नि मे ही जलता रहा ॥148॥

12. वैराग्य की आवश्यकता

एवंविधमिदं कष्टं, ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम्।
कथं न यासि वैराग्यं, धिगस्तु तव जीवितम् ॥149॥

हे आत्मन्! इस प्रकार चारों गतियों में इस भ्रमण के कष्ट को अत्यन्त विनाशीक जानकर क्यों वैराग्य को नहीं प्राप्त होते हो? हे आत्मन्! तेरे ऐसे जीवन को धिक्कार है।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर इस जीव ने जन्म-मरण के घोर कष्ट प्राप्त किये हैं और सर्वत्र दुःखों का ही अनुभव किया है। कहीं पर भी इसे सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई, जीवन असार ही बना रहा। इन्द्रिय रूपी राक्षसों से व्याप्त कामरूपी सिंह से क्षुब्ध देह रूपी कानन में ही मोहान्ध प्राणी भटक रहा है। सुख-शान्ति के भण्डार आत्मा का अवलोकन करने के लिए यह त्याग तपसंयम को धारण कर जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न नहीं कर रहा है। असार सांसारिक सुखों को तृषावर्धक, आकुलता-उत्पादक और अशान्ति का कारण जानकर भी उनसे विरक्त नहीं होता है तथा सच्चे सुख का उपाय नहीं सोच रहा है। ऐसे इस अज्ञानी आत्मा को धिक्कार हो ॥149॥

सांसारिक सुखों का स्वरूप

जीवितं विद्युता तुल्यं, संयोगाः स्वप्नसन्निभाः।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः, शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥150॥

यह जीवन बिजली की चमक के समान क्षण-भंगुर है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि का सयोग स्वप्न के समान है, सांसारिक प्राणियों के साथ स्नेह संध्याकालीन लालिमा के समान विनाशशील है और शरीर तृण पर पड़ी हुई ओस की बूँद के समान पतनशील है।

यह मूढ़ प्राणी जिन-जिन सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह ममता करता है, वे सारे पदार्थ नाशवन्त हैं। जीवन मृत्यु के मुख मे पड़ा है। यह नहीं जाना जाता कि मृत्यु किस समय इस शरीर को अपना ग्रास बना लेगी। जिन स्त्री, पुत्र, मित्रादिक को यह अपना मानता है वे सब स्वप्न के समान देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। मित्रगणो का स्नेह सन्ध्याकालीन लालिमा के समान विनाशशील है। जैसे तृण के ऊपर पड़ी हुई ओसबिन्दु के गिर जाने का खटका सदा बना रहता है, वैसे ही इस शरीर के नाश होने, रोगी होने आदि का भय सदैव बना रहता हैं। ससार की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। फिर भी यह संसारी प्राणी इनको त्यागकर वैराग्य भाव धारण नहीं करता है ॥150॥

सब कुछ नश्वर है

शक्रचापसमा भोगाः, सम्पदो जलदोपमाः।
यौवनं जलरेखेव, सर्वमेतदशाश्वतम्॥151॥

इन्द्रियो के द्वारा भोगने योग्य पदार्थ इन्द्रधनुष के समान देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। सम्पदा बादलो के समान क्षणध्वंसी है। यौवन जलरेखा के समान विनाशशील है और ससार के ये वैभव भोग सब अशाश्वत हैं।

मोही प्राणी सासारिक पदार्थो को शाश्वत मानकर उनमें लीन रहता है, उनकी आसक्ति के कारण धर्म-कर्म से विमुख हो जाता है। परन्तु ये सारे पदार्थ नाशवन्त हैं। इन्द्रियो के भोग इन्द्रधनुष के समान क्षणिक हैं ऐश्वर्य धन -सम्पदा मेघ के समान विनाशीक है, यौवन जल की रेखावत् क्षणिक है। अतः सारी वस्तुओ को क्षणिक एव नाशवन्त समझकर भोगों मे लिप्त नहीं होना चाहिए, सम्पत्ति का अहकार नहीं करना चाहिए तथा जल मे खींची हुई रेखा के समान शीघ्र नष्ट होने वाली युवावस्था को पाकर विषयवासना की मदिरा पीकर उन्मत्त नहीं होना चाहिए अपितु मानव-पर्याय पाकर आत्म-कल्याण करने का उद्योग अवश्यमेव करना चाहिए॥151॥

आत्महित क्यों नहीं करते

समानवयसा दृष्ट्वा, मृत्युना स्ववशीकृताः।
कथ चेतः समो नास्ति, मनागपि हितात्मनः॥152॥

(यह श्लोक अशुद्ध प्रतीत होता है अतः इसका अर्थ समझ मे नहीं आता है। इसका भावार्थ दो प्रकार से हो सकता है—)

हे आत्मन्! समान वय वाले मित्रगणों को मृत्यु के मुख में जाते हुए देखकर भी तेरा मन आत्महित में क्यों नहीं लगता है? तू आत्महित करना क्यो नहीं चाहता है? अथवा जिसके लिए सब बराबर हैं, छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है—अर्थात् मरण के सामने कोई छोटा-बड़ा नहीं है, बालक, युवा, वृद्ध सर्व ही मरण के आधीन हैं, मरने का कोई निश्चित समय नहीं है तथापि संसारी प्राणी आत्महित में मन क्यों नहीं लगाते हैं, यह आश्चर्य की बात है। जब मरण

का समय निश्चित नहीं है, तब निरन्तर आत्महित में मन लगाना चाहिए॥152॥

शरीर की अशुचिता

सर्वाशुचिमये काये, नश्वरे व्याधिपीडिते।
को हि विद्वान् रतिं, गच्छेद्यस्यास्ति श्रुतसंगमः॥153॥

जिसके शास्त्रज्ञान का समागम है अर्थात् जो शास्त्रों का ज्ञाता है, ऐसा कौन विद्धान् व्याधि से पीड़ित सर्व प्रकार से अपवित्र एव नाशवन्त शरीर में आसक्त होगा? अर्थात् ज्ञानी पुरुष शरीर मे आसक्ति नहीं करते।

आचार्य देव कहते हैं कि जिन्होंने शास्त्रज्ञान के द्वारा शरीर के स्वरूप को जान लिया है, वे ज्ञानी अशुचि नाशवन्त और आधि-व्याधि के मन्दिर शरीर में प्रीति-अनुराग नहीं करते। इस शरीर को सार्थक करने के लिए आत्मध्यान करते हैं और व्रतों को धारण कर स्वर्ग, मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥153॥

इस शरीर में आस्था नहीं करने का आदेश

चिरं सुपोषितः कायो, भोजनाच्छादनादिभिः।
विकृतिं याति सोऽप्यन्ते, कास्था बाह्येषु वस्तुषु॥154॥

भोजन-वस्त्रादि के द्वारा चिर काल से भली प्रकार पालन पोषण की हुई यह काया (शरीर) भी मरण के समय विकार को प्राप्त हो जाती है, नष्ट हो जाती है तो अन्य बाह्य पदार्थों मे विश्वास कैसे किया जावे?

जो दूध और पानी के समान आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही हो रहा है, जिसको भोजन-वस्त्रादि के द्वारा पुष्ट किया है, जिसकी पुष्टि के लिए अन्याय अभक्ष्य-भक्षण आदि अनेक कुकार्य किये हैं, वह शरीर भी परलोक मे जाते समय साथ नहीं आता, यहीं रह जाता है तो अन्य पुत्र, मित्र, कलत्र, माता, पिता आदि साथ मे नहीं जाते तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, अतः शरीर, पुत्र, पौत्र, धन, सम्पदादि में आस्था नहीं रखनी चाहिए॥154॥

स्नेह करना व्यर्थ है

नायातो बन्धुभिः सार्द्धं, न गतो बन्धुभिः समम्।
वृथैव स्वजने स्नेहो, नराणां मूढचेतसाम्॥155॥

हे आत्मन्! यह जीव अपने भाई-बन्धुओं के साथ जन्म नहीं लेता है और न यह भाई-बन्धुओं के साथ मरता है। अतः मूढ़बुद्धि मानवों का अपने बन्धु आदि में स्नेह करना व्यर्थ ही है।

जिन मूढ़ प्राणियों को शरीर से भिन्न अपने आत्मस्वरूप का विश्वास नहीं है, जो शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश को अपना नाश मानते हैं, पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बी-जनों को अपना मानकर उनके साथ स्नेह करते हैं, वे यह नहीं जानते कि ये पुत्र, पौत्रादिक न तो किसी के साथ आते हैं, और न किसी के साथ परभव में जाते हैं। यह प्राणी अकेला ही तिर्यंच आदि गतियों में आकर जन्मता है और अकेला ही मरता है तथा अकेला ही सुख-दुःख भोगता है और अपने पुण्य-पाप के अनुसार देव, नरक आदि गतियों में चला जाता है। किसी के साथ किसी का अनादिकालीन सम्बन्ध नहीं है-केवल स्वार्थ के वशीभूत हो एक दूसरे से स्नेह करते हैं। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि हे आत्मन्! इन कुटुम्बीजनों के पीछे अपने आत्मस्वरूप को भूलकर मूढ़ प्राणी वृथा ही अपने जन्म को नष्ट करते हैं, जल में कमल के समान अलिप्त रह कर आत्मकल्याण नहीं करते ॥155॥

शोक करना वृथा है

जातेनावश्यं मर्तव्यं, प्राणिना प्राणधारिणा।
अत कुरुत मा शोकं, मृते बन्धुजने बुधाः ॥156॥

जन्म लेने वाले प्राणधारी, प्राणियों को अवश्य मरना पड़ेगा, इसलिए बुद्धिमान् मानव बन्धुजनो के मरने पर शोक नहीं करते हैं।

जो जन्मता है, उसका मरण अवश्य होता है, क्योंकि एक शरीर में आत्मा आयुप्रमाण ही रहता है, आयुनिषेकों के गल जाने पर उसे वह शरीर छोड़कर अवश्य ही दूसरे शरीर में जाना पड़ता है, इसी को मरण कहते हैं। मृत्यु से बचाने मे कोई समर्थ नहीं है, अतः इनके मरने पर शोक करने से कोई लाभ नहीं है प्रत्युत् कर्मबन्ध ही होता है। अर्थात् इनके संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद करके कर्मास्रव नहीं करना चाहिए ॥156॥

स्वहित का नाश करने वाला

आत्मकार्यं परित्यज्य, परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः, स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥157॥

जो कोई स्वकीय हितकार्य को छोड़कर चित्त में ममत्व भाव मे लीन होकर दूसरों के कार्यों में ही रत हो जाता है, वह अपने हित को नष्ट कर देता है।

जो मूढ़ प्राणी शरीर वा कुटुम्ब का मोही बन कर अहर्निश शरीर एव कुटुम्बी-जनों की चिन्ता में लीन हो जाता है और अपने हित को भूल जाता है, वह दुःखमय चारों गतियों में भ्रमण करता रहता है। वह कभी संसार-कारागृह से मुक्त नहीं हो सकता ॥157॥

स्वहित का स्वरूप

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं, चारित्रं दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव, सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥158॥

केवलज्ञानी भगवान ने कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप के संरक्षण से आत्मा का हित होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की आराधना करने से आत्मा का हितकल्याण होता है, इसी के प्रभाव से आत्मा ससार के दुःखो से छूटकर मुक्तिपद को प्राप्त करती है, अतः इन चार आराधनाओ को स्मरण-मनन और धारण करना चाहिए, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है ॥158॥

स्वहित से भ्रष्ट कौन होता है

सुखसम्भोगसम्मूढा, विषयास्वादलम्पटाः।
स्वहिताद् भ्रंशमागत्य, गृहवासं सिषेविरे ॥159॥

इन्द्रियसुख के सम्भोग मे मूढ़ और विषयों के स्वाद में लम्पटी प्राणी स्वहित से भ्रष्ट होकर गृहस्थ-जीवन का सेवन करते हैं।

विषयवासनाओ से विरक्त होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाने से ही नूतन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है और इसी से आत्महित होता है तथापि यह पचेन्द्रिय्-विषयसुखों के सम्भोग करने से मूढ़ प्राणी आत्महितकारक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर गृहस्थ अवस्था को स्वीकार करता है। मिथ्यात्व के उदय से इन सांसारिक सुखों को ही अमृत की धार मानता है और दिन-रात उसी में लीन रहकर मानव-जन्म को व्यर्थ में नष्ट कर देता है ॥159॥

संसार से विरक्ति क्यों नहीं होती

वियोगाः बहवो दृष्टाः, द्रव्याणां च परिक्षयात्।
तथापि निर्घृणः चेतः, सुखास्वादन लम्पटः ॥160॥

धनादिक के नष्ट हो जाने से बहुत से वियोग दृष्टिगोचर होते हैं तथापि यह मानव भोगों से घृणा नहीं करता हुआ इन्द्रिय सुखों के स्वाद में लम्पटी हो जाता है।

ससार की सभी वस्तुएँ विनाशशील हैं, देखते-देखते धन, पुत्र-पौत्रादिक विभूतियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा इनके वियोग से होने वाली मानसिक पीड़ाओं से मानव मन व्यथित हो जाता है। इष्ट के वियोग तथा अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न आर्त्तध्यान से भी चित्त अशान्त रहता है। एक क्षण भी ससार मे सुख और शान्ति नहीं है। यदि सुख की कल्पना भी की जाय तो सरसो के दाने बराबर सुख है और मेरु प्रमाण दुःख है, तथापि ससारी प्राणी विषयसुख के स्वाद मे लम्पटी होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और विषयतृष्णा के वशीभूत होकर दुर्गति का पात्र बन जाता है, परन्तु विषयवासनाओं से विरक्त नहीं होता ॥160॥

करने योग्य कार्य

यथा च जायते चेतः, सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम्।
तथा ज्ञानविदा कार्यं, प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥161॥

जिससे चित्त की निर्मलता और आत्मविशुद्धि हो, वही कार्य ज्ञानी को बहुत प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए।

मन, वचन, काय की ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिए जिससे मानसिक विषय-लम्पटता का मैल निकल जाये, स्वप्न सम सासारिक सुखो से प्रीति नष्ट हो जाये और आत्मध्यान, चिन्तन मनन में प्रीति लग जाये, जिससे कर्मकालिमा से रहित होकर आत्मा निखर उठे। विषयलम्पटता अनेक अनर्थों में पटकने वाली है अतः प्रयत्नपूर्वक विषयो से विरक्त होकर चित्त की निर्मलता और आत्मशुद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए॥161॥

मनुष्य-भव की सफलता

विशुद्धं मानस यस्य, रागादिमलवर्जितम्।
संसाराग्र्थं फलं तस्य, सफलं समुपस्थितम्॥162॥

जिसका मन रागादि मैल से रहित शुद्ध है, उसीके संसार का मुख्य फल (मानवजन्म का मुख्य फल) सफलता पूर्वक उपस्थित हुआ है।

इस जगत् मे उसी मानव का जीवन सफल है जिसने अपने मन को रागद्वेषादि मैल से रहितकर आत्मस्वभाव को निर्मल बना लिया है। कर्मबन्ध की कारणभूत सरागता से चित्त को हटाकर वीतरागता मे लीन होकर निरन्तर समभावपूर्वक आत्म-चिन्तन-मनन मे मग्न होकर कर्म-निर्जरा करने का प्रयत्न करने वाले मानव का जीवन ही सफल है।

अभव्य क्या नही कर सकता

संसारध्वंसने हीष्टं, धृतिमिन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये यत्नं, नाभव्यो लब्धुमर्हति॥163॥

अभव्य जीव ससार के नाश में प्रेम, इन्द्रियों को जीतने में धैर्य और कषायो को जीतने में प्रयत्न, निश्चय से प्राप्त नहीं कर सकता।

जीव दो प्रकार के होते हैं—भव्य और अभव्य। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्रगट कर सकते हैं, उनको भव्य कहते हैं। इनसे विपरीत अर्थात् जिनमें रत्नत्रय प्रकट करने की शक्ति नहीं है वे अभव्य कहलाते हैं। आचार्य देव ने इस श्लोक में अभव्य का वर्णन किया है कि अभव्य जीव के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का तीव्र उदय रहता है

जिससे उसकी सांसारिक पदार्थों से प्रीति नहीं हटती है, उसको इन्द्रियसुख में ही आनन्द आता है अत: कैसे सभव है कि वह अभव्य मुक्ति-मार्ग में प्रीति कर पंचेन्द्रिय विषयों की तृष्णा को रोककर कषायों को जीतने का प्रयत्न करे। अभव्य कभी विषय-सुखों से वास्तविक विरक्त नहीं हो सकता ॥163 ॥

अभव्य आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता

एतदेव परं ब्रह्म, न विन्दन्तीह मोहिनः।
यदेतच्चित्तनैर्मल्यं, रागद्वेषादिवर्जितम् ॥ 164 ॥

ससार में मोही प्राणी यह नहीं जानते हैं कि रागद्वेषरहित जो चित्त की निर्मलता है, वही परम ब्रह्म है।

स्वयं आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्म का स्वरूप है, मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा रागद्वेषमय विकार भाव को प्राप्त होता है। यदि वह विकार नष्ट कर दिया जाय तो वीतराग शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट हो सकता है। वही शुद्धात्मा का सिद्ध समान स्व स्वरूप है। परन्तु ससार के मोही जीव इस बात का अनुभव नहीं करते हैं। अत: संसार में भटक रहे हैं।

जिस प्रकार पवन के झकोरो से चंचल और कीचड से मलिन जल मे सुख नहीं दिखता, उसी प्रकार रागद्वेष से चचल और मिथ्यात्व कीचड़ से मलिन मन मे आत्मस्वरूप का अवलोकन नहीं होता। परन्तु रागद्वेष के नाश होते ही आत्मस्वरूप का अवलोकन होता है और सारे दु:खो से छुटकारा पाकर आत्मा परमात्मा बन जाता है अत: रागद्वेषरहित आत्मा का ध्यान करना चाहिए ॥164 ॥

करने योग्य कर्त्तव्य

तथानुष्ठेयमेतद्धि, पंडितेन हितैषिणा।
यथा न विक्रियां याति, मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ॥ 165 ॥

आत्महित-वाञ्छक ज्ञानी को ऐसा अनुष्ठान-आचरण करना चाहिए जिससे विपत्तियों के आने पर भी मन अधिक विकार को प्राप्त न हो।

भेदविज्ञानी, विवेकी एवं आत्महितैषी विद्वानों को ऐसा अनुष्ठान करना चाहिए, जिससे शत्रु-मित्र, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, संयोग-वियोग में समता भाव रखा जा सके, जिससे प्राण घातक सकट वा घोरोपसर्ग आ जाने पर मानसिक विकृति वा रागद्वेषादि विकार उत्पन्न न हों यह भावना होनी चाहिए कि सुख-दु:ख, हानि-लाभ आदि सर्व अवस्था स्वोपार्जित पुण्य पाप का फल है अत: सर्व अवस्थाओं में समभाव होकर सहनशील क्षमावान् बन आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए॥165॥

धन्यवाद के पात्र

धन्यास्ते मानवा लोके, ये च प्राप्यापदां पराम्।
विकृतिं नैव गच्छन्ति, यतस्ते साधुमानसा: ॥166॥

जो मानव परम (घोर) आपदा को प्राप्त करके भी विकृति को प्राप्त नहीं होते हैं, अपने भावो में राग-द्वेषादि विकार नहीं आने देते हैं, वे ही साधु मन वाले मानव लोक में धन्यवाद के पात्र हैं।

मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर आत्मीय शान्ति प्राप्त होती है। वास्तव में, वे ही मानव प्रशसनीय वा धन्यवाद के पात्र हैं जो तीव्रतर कर्मों के उदय से घोर आपत्ति आने पर भी वस्तु स्वरूप का विचार कर समभाव रखते हैं, राग-द्वेषादि विकार के वशीभूत नहीं होते। मोक्षार्थी को सदैव ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसका मन विकारी न हो॥166॥

संक्लेश नहीं करने का आदेश

संक्लेशो नहि कर्तव्य:, संक्लेशो बन्धकारणम्।
संक्लेशपरिणामेन, जीवो दु:खस्य भाजनम्॥67॥

ज्ञानी को संक्लेश भाव नहीं करने चाहिए। संक्लेश भाव कर्मबन्ध के कारण हैं क्योंकि संक्लेश-परिणामों से ही जीव दु:ख का भाजन होता है।

कर्मोदयजनित आपत्ति आने पर आर्त्तध्यानमय संक्लेश परिणाम नहीं करने चाहिए, क्योंकि सक्लेश परिणामों से असाता वेदनीय आदि अशुभकर्म का आस्रव होता हैं, जिसके कारण इह-परलोक में प्राणी दु:ख का भाजन

बनता है। संक्लेश परिणामों से शरीर का रुधिर सूख जाता है, शरीर निर्बल, शक्तिहीन बन जाता है, लौकिक एव धार्मिक कार्यों में उसका उपयोग स्थिर नहीं रहता। अत: अशुभ कर्मों के उदय को सन्तोष पूर्वक सहन करना चाहिए जिससे नूतन कर्मों का आस्रव न हो और पुरातन कर्मों की निर्जरा हो सके ॥167 ॥

संक्लेश परिणामों का फल

संक्लेशपरिणामेन, जीवः प्राप्नोति भूरिशः।
सुमहत् कर्मसम्बन्धं, भवकोटिषु दुःखदम् ॥168 ॥

संक्लेश भावो के द्वारा यह जीव करोडो जन्मो मे दु:ख देने वाले बहुत अधिक कर्म के बन्ध को बहुत बार प्राप्त करता है।

जब यह आत्मा संक्लेशपरिणाम करता है, तब उन भावो से तीव्र कर्म का बंध करता है। जब उन तीव्र कर्मों का उदय आता है तब फिर सक्लेश परिणाम होता है और उनसे पुन: दु:खद अशुभ कर्मो का बन्ध होता है। इस प्रकार सक्लेश परिणामो से कर्मबन्ध की श्रृखला और सासारिक दु:खो की परम्परा करोडो भवो तक चलती रहती है सम्यग्दर्शन के लाभ के बिना इन भवों का छूटना कठिन है। मिथ्यादृष्टि विषयातुर होता हुआ अधिकतर आर्त्तध्यानमय सक्लेश परिणाम करता है और तत्फल स्वरूप सांसारिक दु:खों को भोगता रहता है।

जीव के भाव तीन प्रकार के होते हैं शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ भावो से शुभ (पुण्य) कर्म का आस्रव होता हे, अशुभ भावों से अशुभ (पाप) कर्म का आस्रव होता है और शुद्ध भावों से कर्मों की निर्जरा होती है। सक्लेश परिणाम अशुभ होते हैं। इनसे ससारवर्द्धक कर्मों का आगमन होता है। अत: सक्लेश परिणामों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए ॥168 ॥

उत्तम धन का वर्णन

चित्तरत्नमसंक्लिष्टं, महतामुत्तमं धनम्।
येन सम्प्राप्यते स्थानं, जरामरणवर्जितम् ॥169 ॥

संक्लेशरहित चित्तरूपी रत्न ही महापुरुषों का उत्तम धन है, जिस धन के द्वारा जरा-मरणरहित स्थान प्राप्त किया जाता है।

जिन महापुरुषों ने संक्लेश भावों का त्याग कर शान्त भाव रखने का अभ्यास किया है, जो दु:ख-सुख मे समता भाव रखते हैं, उनके पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है तथा नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है। फलस्वरूप जीवात्मा जन्म-जरा-मरण से रहित, अविनाशी, शुद्ध चैतन्य स्वरूप मुक्त अवस्था को प्राप्त कर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का धनी बन जाता है, अत: असक्लेश परिणाम ही परम धन है।

महापुरुषों का लक्षण

सम्पत्तौ विस्मिता नैव, विपत्तौ नैव दु:खिता:।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागम: ॥170॥

सम्पत्ति मे विस्मित-घमण्डी और विपत्ति में दु:खी नहीं होना यही महान् पुरुषों का लक्षण है। केवल द्रव्य का समागम (धन की प्राप्ति) होना महान् पुरुषो का लक्षण नहीं है।

वे ही जगत् मे माननीय, पूजनीय और महान् पुरुष हैं जो सांसारिक वैभव को प्राप्त कर मान के पर्वत पर नहीं चढ़ते हैं, वैभव के मद मे उन्मत होकर अहकारी नहीं बनते हैं और आपत्ति मे आकुल-व्याकुल नहीं होते हैं, अपितु सुख-दु:ख मे समभाव रखते हैं। धन आदि सासारिक वैभव को प्राप्त कर वे सोचते हैं कि यह पुण्यकर्म रूपी वृक्ष का फल है, पुण्यकर्म के क्षीण होते ही इसका नाश असभव नहीं है क्योकि ये सब क्षणिक एवं विनाशशील है, शाश्वत नहीं। तीव्र दु:ख एव आपत्ति आने पर भी महापुरुष आकुल-व्याकुल नहीं होते। वे धीर-वीर पुरुष सोचते हैं कि यह स्वकीय अशुभ भावों के द्वारा उपार्जित अशुभ कर्म का फल है। इसको समभावों से भोगने पर ही कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तथा शुभाशुभ कर्म के उदय में हर्ष-विषाद करने से नवीन कर्म आकर चिपक जाते हैं। दु:ख और सुख दोनों ही शाश्वत नहीं है। अत: इनमें शोक और हर्ष करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। संक्लेश करने पर कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता, ऐसा मानकर महान् पुरुष सम्पत्ति एवं विपत्ति में समभाव रखते हैं।

धन का समागम महानता का द्योतक नहीं है क्योंकि इन जड़ पदार्थों के संयोग से आत्मा का उत्थान नहीं होता। आत्मोत्थान का कारण तो समभाव है। अत: समभावी शान्तरस समरसी भाव का अनुभव करने वाला ही वास्तव में महान् है ॥170॥

दु:ख में शोक करना उचित नहीं है

आपत्सु सम्पतन्तीषु, पूर्वकर्मनियोगतः।
शौर्यमेव परं त्राणं, न युक्तमनुशोचनम् ॥171॥

पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से आपत्ति आ जाने पर शूरता दृढ़ता ही परम रक्षक है, आपत्ति मे बार-बार आकुलता व चिन्ता करना उचित नहीं है।

जैसे मेरु पर्वत प्रलयकाल की पवन चलने पर भी अपनी दृढ़ता को नहीं त्यागता है, दृढ रहने से पवन के आक्रमणों को भी जीत लेता है, वैसे ही महान् पुरुष अपने ही बाँधे हुए पापकर्म के उदय से प्राप्त आपत्तियो के पड़ने पर अपने मन को दृढ़, साहसी व वीर भाव-युक्त रखते हैं, जिससे वे संकटो को वीरता से सह लेते हैं। वे बार-बार चिन्ता करके दु:खित परिणाम नहीं करते हैं। यह क्षमाभाव या सहनशीलता भाव उनके जीवन को साहसी बनाता है ॥171॥

शान्ति का कारण

विशुद्धपरिणामेन, शान्तिर्भवति सर्वतः।
संक्लिष्टेन तु चित्तेन, नास्ति शान्तिर्भवेष्वपि ॥172॥

विशुद्ध वा निर्मल भावों से सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छाया रहता है, परन्तु सक्लेश परिणामों से जन्म-जन्मान्तरों में भी शान्ति नहीं मिल सकती है।

विशुद्ध निर्मल भावो से पुण्य-कर्मों का आस्रव होता है अत: साताकारी कर्मों के उदय से इहलोक और परलोक दोनो ही भवों में शान्ति एव सुख की प्राप्ति होती है। परन्तु अशुभ सक्लेशित परिणामो के द्वारा पापकर्म का आस्रव होता है, इसके फलस्वरूप इस लोक में इष्टवियोग, अनिष्टसयोग-जन्य दु:ख और परलोक मे नरक-तिर्यंच आदि दु:खों का अनुभव करना पड़ता है,

जिनसे भवान्तरों में भी शान्ति नहीं मिल सकती। अत: सक्लेश परिणामो का परित्याग कर निर्मल भावों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए॥172॥

संसारवर्द्धिनी और सम्यक्त्वदायिनी क्रिया

संक्लिष्टचेतसां पुंसां, बुद्धिः संसारवर्द्धिनी।
विशुद्धचेतसां वृत्तिः, सम्यक्त्ववित्तदायिनी॥173॥

सक्लिष्ट परिणामधारी पुरुषो की बुद्धि ससार को बढ़ाने वाली होती है और निर्मल भाव वाले पुरुषों की प्रवृत्ति सम्यक्त्व रूपी धन को प्रदान करने वाली होती है।

जिन मानवो के परिणामो मे ससार के पदार्थों की तृष्णा के वश रात-दिन अशुभ सक्लेश भाव रहते हैं, उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायो का निरन्तर बंध पड़ता है। वे निगोद पर्याय मे चले जाते हैं। वहाँ अनन्त काल तक जन्म-मरण करते हैं, परन्तु जिनके परिणाम शुभ हैं, शान्त हैं, वे तत्वों का मनन करते हैं। उनको निज आत्मा का श्रद्धान होना बहुत सम्भव है। सम्यग्दर्शन के लाभ के समान जगत् में कोई धन नहीं है। शान्त चित्तवालों को ऐसे अपूर्व धन की प्राप्ति होती है। वे इस धन के प्रताप से मुक्ति-सुन्दरी को वश मे कर लेते हैं॥73॥

चित्त-विशुद्धि का फल

यदा चित्तविशुद्धिः स्यादापदः सम्पदस्तथा।
समस्तत्त्वविदां पुंसां, सर्वं हि महतां भहत्॥174॥

जब तत्त्वज्ञानी पुरुषो के चित्त मे विशुद्धि होती है तब आपत्ति और सम्पदा में उनका समभाव रहता है क्योकि महापुरुषों की चेष्टा महान् होती है।

जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को विचारने वाले ज्ञानी जीव हैं, वे अपने चित्त को सदा निर्मल रखते हैं विषयो की तृष्णा से और उन विषयों के वियोग से अपने भावो को मैला नहीं रखते हैं। वे तत्त्वज्ञानी आत्मसुख के प्रेमी होते हैं। अपने बाँधे हुए कर्मों के उदय से जब आपत्तियाँ आ जाती हैं या सम्पत्तियाँ हो जाती हैं तब वे दोनों दशाओ में समभाव रखते हैं। वे जानते हैं कि यह सर्व

पुण्य-पाप का खेल है। दोनों ही नाशवन्त हैं। इनके संयोग में हर्ष- विषाद करनो व्यर्थ है। महात्मा सम्यग्दृष्टि जीव जगत् में ज्ञाता द्रष्टा बने रहते हैं। दु:ख पडने पर दु:खी व सुख पड़ने पर उन्मत्त नहीं होते हैं॥174॥

अपने मन को रोकने का प्रयत्न करना

परोऽप्युत्पथमापन्नो, निषेद्धुं युक्त एव सः।
किं पुनः स्वमनोऽत्यर्थं, विषयोत्पथयायिवत्॥175॥

कुमार्गगामी दूसरे प्राणियो को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाना तो ठीक है ही, परन्तु विषयभोग रूप कुमार्ग में जाने वाले अपने मन को अतिशय रूप से क्या नहीं रोकना चाहिए? अपितु अवश्य रोकना चाहिए।

जो मानव दूसरों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं परन्तु अपने मन को विषयों मे जाने से नहीं रोकते हैं, उनके लिए आचार्य श्री कहते हैं कि भाई! जैसे दूसरो को कुमार्ग से रोकना उचित है वैसे अपने मन को भी तो विषयों से रोकना चाहिए। दूसरे हमारे उपदेश से सुमार्ग पर आ जावेगे तो वे कुमार्ग से बचेगे, इसका कोई निश्चय नहीं है। उपदेशदाता का उपदेश दूसरे पर असर करेगा, तब ही वह उसे मान सकेगा परन्तु अपना मन तो अपने आधीन है। जब हम भले प्रकार अपने मन को समझावेंगे तो हम उसे कुमार्ग पर जाने से रोक सकेंगे। इसलिए हमें अपने आपको विषयों के मार्ग से अवश्य बचाना चाहिए॥175॥

स्वकीय मन को रोकने का प्रयत्न करना

अज्ञानाद्यदि मोहाद्यत्कृतं कर्म सुकुत्सितम्।
व्यावर्तयेन्मनस्तस्मात्, पुनस्तन्न समाचरेत्॥176॥

यदि अज्ञान और मोह के कारण यह मन कुमार्ग में गया हो, वा इसने कुत्सित कर्म किये हों तो शीघ्र ही कुत्सित कर्म से मन को हटाकर पुनः कुकार्य का आचरण न करे।

प्रायः कर अशुभ कार्य अज्ञान और मोह (कषाय) के कारण होते हैं। अज्ञान और मोह के कारण मानव हिताहित के विचार से शून्य हो जाता है और

अकार्यों में प्रवृत्ति करता है। उस समय तत्त्व के स्वरूप का विचार कर ज्ञान के बल से कुमार्ग में जाते हुए मन को रोकना चाहिए तथा उसे संयम की साधना में लगा देना चाहिए, जिससे वह संसार के भोगों से विरक्त हो जाय और फिर कभी विषय-वासना के कुमार्ग में न फँसे। आत्मबल प्रत्येक प्राणी के भीतर मौजूद है। प्रत्येक आत्मा अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का भण्डार है, उसका अनुभव कर अपने मन-को वश में करना चाहिए तथा आत्महित में लगने का अभ्यास करना चाहिए ॥176॥

कर्म-फल कटु है

अचिरेणैव कालेन, फलं प्राप्स्यसि दुर्मते।
विपाकेऽतीवतिक्तस्य कर्मणो यत्त्वया कृतम् ॥177॥

हे दुर्बुद्धे! तूने जो कर्म किए हैं, उन अत्यन्त तीव्र कर्मों का विपाक होने पर तू शीघ्र ही उनका फल प्राप्त करेगा।

अज्ञानी प्राणी पाप करते समय यह विचार नहीं करता कि इसका कटुफल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। तीव्र भावो से बाँधे हुए असाता आदि कर्मों का जब उदय आता है तब प्राणी को असहनीय दु:खों की प्राप्ति होती हैं, ऐसा विचार कर बुद्धिमानो को ऐसे काम नहीं करने चाहिए जिनसे भविष्य मे दु:ख भोगने पड़ें ॥177॥

कर्म का उदय आने पर पश्चाताप होता है

वर्धमानं हि तत्कर्म, संज्ञानाद्यो न शोधयेत्।
प्रभूतभूतसंग्रस्तः, स पश्चात् परितप्यते ॥178॥

जो कोई अज्ञानी मानव इस बढ़ते हुए पापकर्म को सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर नहीं करता है, वह अति तीव्र पाप कर्म रूपी भूत से पकड़ा हुआ पीछे पछताता है।

यदि कोई जीव अज्ञान और मोह के कारण अपने मन को पापकर्म से नहीं हटाता है, पापमार्ग में ही प्रवृत्ति करता रहता है, धर्म-कार्य में लक्ष्य नहीं देता है तो उसके जब उस तीव्र पाप कर्म का उदय आता है, तब वह प्राणी असह्य दु:ख भोगता है और मन मे पश्चात्ताप करता है ॥178॥

सुख के लिए किये हुए पापकर्म से दुःखी ही होता है

सुखभावकृता मूढाः, किं न कुर्वन्ति मानवाः।
येन सन्तापमायान्ति, जन्मकोटिशतेष्वपि॥179॥

सुख पाने के भाव से प्रेरित होकर मूर्ख मनुष्य क्या-क्या पाप-कर्म नहीं करते, जिस पाप के फल से करोड़ो जन्मो मे भी दुःख ही पाते हैं।

इन्द्रियसुख की अति तृष्णावश यह प्राणी हिसा आदि पापो में तथा जुआ खेलना, शिकार करना, चोरी करना, वेश्यागमन आदि व्यसनो मे प्रवृत्ति कर दीर्घ स्थिति तथा तीव्र अनुभागबन्ध वाले पापकर्मों का उपार्जन कर करोड़ो जन्मो तक नरक-तिर्यचादि गतियो मे घोर दुःख भोगता रहता है॥179॥

मायाचार से दुःख

परं च वञ्चयामीति, यो हि मायां प्रयुज्यते।
इहामुत्र च लोके वै, तैरात्मा वंचितः सदा॥180॥

मैं दूसरों को ठगता हूँ, ऐसा विचार कर जो मूढ प्राणी दूसरो को ठगने के लिए मायाचार में प्रवृत्ति करता है, वह इस लोक में तथा परलोक मे सदा अपने आपको ठगता है।

जो कोई मानव सासारिक पदार्थो को प्राप्त करने की इच्छा से दूसरो को धोखा देते हैं, उनके साथ मायाचार करते हैं, अनेक प्रपचों से दूसरो को ठगते हैं, वे अपनी क्रिया से अपनी आत्मा को ठगते हैं। इस लोक में मायाचारी लोग निरन्तर भयभीत एव मलिन भावो से आकुलित रहते हैं, दूसरो को ठगने के भावो से उनमे निरन्तर हिसात्मक परिणति बनी रहती है। जब उनका मायाचार प्रगट हो जाता है, तब वे अविश्वास और निन्दा के पात्र होते हैं और तीव्र पाप के कारण तिर्यञ्च एव नरकायु बाँध कर कुगति मे जाकर असह्य दुःख भोगते हैं। इस मायाचार के कारण वे जन्म-जन्मान्तरो मे दुःख उठाते हैं। यह माया विष की बेल है और आत्मा की शत्रु है॥180॥

मानव-जन्म की निष्फलता

पञ्चतासन्नतां प्राप्तं, न कृतं सुकृतार्जनं।
स मानुषेऽपि संप्राप्ते, हा! गतं जन्म निष्फलम्॥181॥

जो मानव मरण के सन्निकट होने पर भी पुण्योपार्जन नहीं करता है, वह मानव-जन्म प्राप्त करके भी अपना जन्म व्यर्थ नष्ट कर देता है, वह बड़े खेद की बात है।

मानव-जन्म सारे जन्मो-गतियों में श्रेष्ठ है। इस भव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है और इसी से 16 वें स्वर्ग से उपरिम पदों की तथा इसी से तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि पद की प्राप्ति होती है। इसी भव में परोपकार, दान-पूजा, तपश्चरण आदि धार्मिक कार्यों की साधना की जाती है। ऐसी सर्वोत्कृष्ट पर्याय को प्राप्त कर भी जो इसे विषय-वासनाओं में वृथा नष्ट कर देते हैं, वे मानव मानो चन्दन के बगीचे को कोयले के लिए जलाकर भस्म करते हैं। वा सूत के धागे के लिए रत्नो के हार को तोड़ कर नष्ट करते हैं।

जो मानव धार्मिक क्रियाओ को छोड़कर पापाचार में फँसकर मानव-जन्म को खो देते हैं, उसके लिए आचार्यदेव ने खेद प्रगट किया है कि ऐसे अपूर्व अवसर को खो देना महती मूर्खता है॥181॥

सदा संसारी

कर्मपाशविमोक्षाय, यत्नं यस्य न देहिनः।
संसारे च महागुप्तौ, बद्धः संतिष्ठते सदा॥182॥

मनुष्य-पर्याय को प्राप्त कर जिस प्राणी का उपाय कर्म के जाल से छूटने के लिए नहीं है, वह सदा इस महान् गम्भीर कारागृह के समान संसार मे बँधा रहता है।

इस संसार में अनादि काल से पुण्य-पाप की बेड़ी मे बँधा हुआ प्राणी सुख-दु:ख भोगता हुआ भ्रमण कर रहा है। जब तक यह भव्य जीव कर्मों के जाल को काटने का उद्योग नहीं करेगा, तब तक संसार के दु:खों से इसे

छुटकारा नहीं मिल सकता। बन्धन से छूटने का उपाय है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। रत्नत्रय की साधना मानव-पर्याय में ही होती है। रत्नत्रय के द्वारा नूतन कर्मों का सवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा कर सदा के लिए कर्म बन्ध से छूटना इस मनुष्य-पर्याय मे ही सम्भव है। परन्तु जो मानव ऐसी उत्तम पर्याय को प्राप्त कर भी कर्मजाल के नाश करने का प्रयत्न नहीं करता है, वह इस संसार कारागृह से कभी नहीं छूट सकता। अत: मानव-पर्याय को प्राप्त कर धर्म की साधना करनी चाहिए ॥182॥

बान्धवों में बँधा हुआ प्राणी

गृहाचारकुवासेऽस्मिन्, विषयामिषलोभिनः।
सीदन्ति नरशार्दूलाः, बद्धाः बान्धवबन्धनैः ॥183॥

मनुष्यगण इस गृहस्थ के कुवास मे रहते हुए पाच इन्द्रियो के विषय रूपी मांस के लोभी नरसिंह होने पर भी बन्धुजनो और परिवार के स्नेह द्वारा बँधे हुए दु:ख उठाते रहते हैं।

महान् पराक्रमी पुरुष भी इन्द्रियविषयों के लोलुपी होकर गृहस्थावस्था मे फँसकर रात-दिन विषयभोगो में लीन रहते हैं। इच्छित भोगो की प्राप्ति न होने पर निरन्तर चाह की दाह मे जलते रहते हैं। इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर शरीरादि के रोगादि से पीडित होने पर तथा धन की अभिलाषा मे निरन्तर आकुलित रहते हैं। जितना-जितना विषयभोग किया जाता है, उतना ही तृष्णा का दाह विशेष रूप से बढ़ता जाता है-भोगो से कभी शान्ति नहीं मिली। उन विषयभोगो के सेवन से अशुभ कर्मों को बाँधकर दुर्गति मे जाता है। वास्तव मे वही सुखी होते हैं जो विषय रूपी मास का त्याग कर अतीन्द्रिय सुख रूपी अमृत के प्रेमी होकर गृहस्थजाल को तोड़कर निर्विकल्प समाधि मे लीन हो कर्मजाल का नाशकर मुक्ति अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥183॥

गर्भावस्था के दु:ख

गर्भवासेऽपि यद्दुःखं, प्राप्तमत्रैव जन्मनि।
अधुना विस्मृतं केन, येनात्मानं न बुध्यसे ॥184॥

हे आत्मन्! इस जन्म में गर्भ के भीतर रहकर तूने जो दुःख उठाये हैं, अब तू क्यों उनको भूल गया है जिससे तू अपनी आत्मा को नहीं पहचानता है।

हे आत्मन्! अनन्त भवों के दुःख की बात तो दूर रहे, इसी भव में माता के उदर मे नौ महीने तक तूने जो दुःख भोगे हैं, उनका भी तुझे स्मरण नहीं है। यदि एक भव के गर्भवास के दुःखों का भी तुझे स्मरण हो जाता तो तुझे अवश्य ही ससार से विरक्ति हो जाती।

माता के उदर में तू नौ महीने तक उलटा लटका रहा है। हलन-चलन, शरीर के विस्तार आदि को वहाँ जगह नहीं रही, शरीर को सकुचित करके तुझे रहना पड़ा। माता के मल की थैली से छनकर आये हुए रस को पीकर तू जीवित रहा। बाहर निकलते समय जो वेदना तुझे हुई, उसका वर्णन केवली भगवान ही कर सकते हैं। गर्भवास का दुःख नरक एवं निगोद सम्बन्धी दुःखो से भी अधिक है।

हे आत्मन्! उस गर्भवास के दुःखों को भूलकर तू सांसारिक वासना में पड़ा हुआ है। कर्म की बेड़ियाँ काटकर सुखी बनाने वाली आत्मसाधना, आत्म-ज्ञान-ध्यान से विमुख हो रहा है। इस प्रकार आत्म-साधना के लिए प्राप्त इस सुअवसर रूप मानव पर्याय को वृथा ही नष्ट कर रहा है॥184॥

नाना दुःखों से भरा हुआ संसार

चतुरशीतिलक्षेषु, योनीनां भ्रमता त्वया।
प्राप्तानि दुःखशल्यानि, नानाकाराणि मोहिना॥185॥

हे आत्मन्! मोह वश चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते हुए तूने नाना प्रकार के दुःखरूपी काँटे प्राप्त किये हैं।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, नित्यनिगोद, इतर निगोद, इनकी सात-सात लाख योनियाँ है। वनस्पतिकाय दस लाख, दो इन्द्रिय दो लाख, तीन इन्द्रिय दो लाख, चार इन्द्रिय दो लाख, देव चार लाख पचेन्द्रिय तिर्यंच चार लाख, नारकी चार लाख और मनुष्य 14 लाख इस प्रकार चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए इस जीव ने अनेक दुःख सहन किये हैं। कभी पुण्य के उदय से स्वर्ग में भी गया तो वहाँ पर भी इष्ट-वियोग आदि

मानसिक दु:खों से दु:खित रहा। नरक गति और तिर्यंच गति तो दु:ख की खान ही है। तिर्यंचों के दु:ख तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। मानवपर्याय भी दु:खों की खान है। हे आत्मन्! मोहकर्म के वशीभूत हो आत्मस्वरूप को भूलकर तूने अनन्त दु:ख सहे हैं, अब मानव-भव प्राप्त हुआ है अत: आत्मस्वरूप को पहचान कर दु:खों से छूटने का प्रयत्न कर ॥185॥

संसार से विरक्त क्यों नहीं होता

कथं नोद्विजसे मूढ! दु:खात् संसृतिसम्भवात्।
येन त्वं विषयासक्तो, लोभेनास्मिन् वशीकृत: ॥186॥

हे मूढ़ आत्मन्! तू सासारिक दु:खों से उद्विग्न क्यों नहीं होता है जिससे इस ससार मे विषयासक्त हुआ तू लोभकषाय के वशीभूत हुआ है।

हे मूढ़ आत्मन्! तू विषयवासनाओं में आसक्त हो रात-दिन पचेन्द्रिय भोगो की चाह की दाह में जल रहा है। विषयो का लोभी तू सांसारिक अनेक दु:खों को भोगता हुआ भी विषयों के अनुराग को नहीं छोड रहा है। तेरी बुद्धि इतनी मन्द और विकृत हो गई है जिससे तू अनन्त सुख के भण्डार, परम शान्ति के सागर स्वकीय आत्मा की तरफ दृष्टिपात भी नहीं कर रहा है। भव-सागर मे गोते खाता हुआ तड़प रहा है, परन्तु भव-समुद्र से तारने वाली धर्म रूपी नौका पर आरूढ होने का प्रयत्न नहीं कर रहा है, यह बड़े खेद की बात है ॥186॥

13. चारित्र की आवश्यकता

चारित्र के बिना जीव निष्फल है

यत्त्वयोपर्जितं कर्म, भवकोटिषु पुष्कलं।
तच्छेत्तुं चेन्न शक्तोऽसि, गतं ते जन्मनिष्फलम् ॥187॥

हे आत्मन्! करोडो भवो मे उपार्जन किए हुए कर्मों का नाश करने के लिए यदि तू सामर्थ्य प्रकट नहीं करेगा, तो तेरा मानव-जन्म निष्फल हो जायेगा।

हे आत्मन्! अमूल्य मानव-जन्म, उत्तम कुल और जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके भी यदि तूने सासारिक दु:खों के कारणभूत, कर्मों के नाशक

संयम, तप, चारित्र की आराधना नहीं कर मोह और अज्ञान के कारण विषयभोगों के प्रपंच में फँस कर इस पर्याय को नष्ट कर दिया तो फिर ऐसा सुअवसर मिलना उतना ही दुर्लभ है जितना कि सरसों के दाने का समुद्र मे गिर जाने पर पुनः प्राप्त होना।

देव और नारकी जीव सयम का पालन नहीं कर सकते। तिर्यंच गति मे सिर्फ पंचेन्द्रिय संज्ञी देशसंयम का उपचार से पालन कर सकते हैं। सकल सयम की आराधना और तप की अग्नि से कर्मजाल को भस्म कर शुद्ध अवस्था प्राप्त करने का सामर्थ्य मानवपर्याय में ही है इसलिए हे आत्मन्! इस मानव पर्याय को व्यर्थ नष्ट मत कर, सम्यग्दर्शन सहित चारित्र की आराधना करके अपने जन्म को सफल बना ॥187॥

ज्ञान की महिमा

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म, यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहत्यन्तर्मुहूर्त्ततः॥188॥

हे आत्मन्! अज्ञानी (मिथ्याज्ञान-मिथ्यादर्शन सहित) जीव करोड़ों वर्षों तक तप करके भी जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों की निर्जरा मन, वचन काय को वश मे करके ज्ञानी एक अन्तर्मुहूर्त में कर देता है।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी के कर्मों की निर्जरा नहीं होती। यदि होती भी है तो वह सविपाक निर्जरा होती है। वह सविपाक निर्जरा उदय में समय-समय में कर्मों के झडने से होती है। उस सविपाक निर्जरा से फल देकर करोडो वर्षो मे जितनेकर्म नष्ट होते हैं, उतने कर्मों की वर्गणाओं को सम्यग्ज्ञानी अपने आत्मज्ञान, आत्मप्रतीति वा वैराग्य भाव की शक्ति से मन, वचन, काय को रोककर ध्यान मे तन्मय हो एक अन्तर्मुहूर्त्त में क्षय कर देता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक यदि मन एक विषय में (आत्मध्यान में) लीन हो जाता है तो ध्यान रूपी अग्नि के प्रताप से भवान्तर में बाँधे हुए कर्म भस्म हो जाते हैं और केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है इसलिए कहा जाता है–

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँही, त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते॥

(छहढाला, दौलतराम)

केवल अज्ञान तप से जितने कर्मों की निर्जरा होती है, उतनी निर्जरा मन, वचन, काय को वश करके ध्यान करने से एक क्षण में हो जाती है ॥188 ॥

मानव-जन्म निष्फल है

जीवितेनापि किं तेन, कृता न निर्जरा तदा।
कर्मणां संवरो वापि, संसारासारकारिणाम् ॥ 189 ॥

उस मानव-जीवन से क्याप्रयोजन है, जिसने इस असार संसार में भ्रमण कराने वाले कर्मों का न सवर ही किया और न निर्जरा ही की।

मानव-जीव की सफलता तो आत्मशुद्धि से होती है। आत्मशुद्धि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से होती है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता मानव-पर्याय में ही होती है। जिन महानुभावों ने मानव जैसी उत्तम पर्याय को प्राप्त कर रत्नत्रय से अपनी आत्मा को अलकृत नहीं किया, उनका मानव-जन्म वृथा जाता है। अतः बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि वे पच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति रूप 13 प्रकार के चारित्र को धारण कर नूतन कर्मों का सवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा कर मुक्तिरमा का वरण करें।

एक क्षण भी संयम के बिना नष्ट नहीं करना चाहिए। दुःखद कर्मों का नाश इसी पर्याय मे होता है अतः भोगों मे फँस कर इस पर्याय को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए ॥189 ॥

मानव-जन्म की सफलता

स जातो येन जातेन, स्वकृताऽपक्वपाचना।
कर्मणां पाकघोराणां, विबुधेन महात्मनाम् ॥ 190 ॥

उसी मानव का जन्म सफल है, जिस महात्मा ज्ञानी मानव ने परिपक्व (उदय) काल में भयंकर कर्मों की असमय (अपक्व अवस्था) मे ही निर्जरा स्वीकृत की है। अर्थात् तप के द्वारा घोर कर्मों की अविपाक निर्जरा कर कर्मों का क्षय कर दिया है।

सक्यक् तपश्चरण में एक अद्वितीय शक्ति है जो घोर कर्मों की स्थिति और अनुभाग को घटा देती है, जिसमें बहुत दीर्घ काल तक उदय में आकर दु:खमय फल देने वाले कर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्नि के द्वारा तृण समूह। तपश्चरण मानव-पर्याय में ही संभव है, अत: अमूल्य, दुर्लभ इस मानव-पर्याय को प्राप्त कर इसे सफल करने के लिए तपश्चरण और आत्मचिन्तन मनन, रत्नत्रय-धारण आदि से कर्मों का सवर और निर्जरा करनी चाहिए। आत्मध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए, यही मानव-पर्याय की सार्थकता हैं ॥190॥

स्वात्माधीन सुख प्राप्त करने का प्रयत्न

रोषे रोषं परं कृत्वा, माने मानं विधाय च।
सङ्गे सङ्गं परित्यज्य, स्वात्माधीनसुखं कुरु ॥191॥

हे आत्मन्! क्रोधपर क्रोध कर, मान कषाय पर मान कर और परिग्रह मे परिग्रह का त्याग कर स्वात्माधीन सुख प्राप्त करने का प्रयत्न कर।

वीतराग भाव से नवीन कर्मो का सवर और पुरातन कर्मो की निर्जरा होती है। वीतरागता प्रगट करने का साधन है—आत्म तल्लीनता। आत्मध्यान मे लीनता निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण कर कषायों का दमन करने से होती है। अत: अन्तरग, बहिरगपरिग्रह का त्याग कर, चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृति क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का विनाश करना चाहिए। ये क्रोधादि भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, विभाव रूप हैं—आत्मीय गुणों के घातक हैं, आत्मा से भिन्न हैं ऐसा समझ कर इन कषायों का अभाव करना चाहिए। क्योंकि विषय-कषाय से रहित होने पर ही आत्मा का निश्चल ध्यान हो सकता है। यही ध्यान कर्मों की निर्जरा कर स्वाधीन परमानन्द सुख प्रदान करता है। और सर्व दु:खदावानल को शान्त करता है। ॥191॥

ज्ञानी के करने योग्य कार्य

परिग्रहे महाद्वेषो, मुक्तौ च रतिरुत्तमा।
सद्ध्याने चित्तमेकाग्रं, रौद्रार्ते नैव संस्थितम् ॥192॥

धर्मस्य संचये यत्नं, कर्मणां च परिक्षये।
साधूनां चेष्टितं चित्तं, सर्वपापप्रणाशनम् ॥193॥

परिग्रह में महाद्वेष (वैराग्य), मुक्ति की प्राप्ति में श्रेष्ठ प्रीति, धर्मध्यान में चित्त की एकाग्रता, आर्त्त-रौद्र ध्यान में चित्त को नहीं लगाना, कर्मों का परिक्षय करने मे और धर्म के सचय में यत्न करना तथा चित्त की चेष्टा सर्वपापों के नाश करने में होना ही साधुओं का कर्त्तव्य है।

साधुजनों का कर्त्तव्य है कि कर्मो की निर्जरा और आत्म शुद्धि के लिए सांसारिक परिग्रह से ममता छोड़ मुक्तिमार्ग में उत्कृष्ट प्रीति करे तथा कर्मास्रव के कारणभूत हिसानंदी (हिंसा मे आनन्द मानना), मृषानन्दी (असत्य भाषण में आनन्द का अनुभव करना), चौर्यानन्दी (चोरी करने मे आनन्द), परिग्रहानन्दी (परिग्रह में लीनता) रूप रौद्रध्यान तथा इष्टवियोगज, अनिष्टसयोगज, पीड़ाजनित और निदानमय आर्त्तध्यान को छोडकर, चित्त को एकाग्र कर आत्मचिन्तन करने का प्रयत्न करे-क्योकि आत्मध्यान ही स्वानुभव को जागृत करता है।

सज्जन पुरुषो को प्रतिक्षण धर्म के सचय और कर्मों के क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा मानसिक शुद्धि के द्वारा सर्व पापो का ध्वस कर आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए। वीतराग भावो को अलंकृत कर वीतरागी बन सदा के लिए अविनाशी केवलज्ञान प्राप्त कर ससार के बन्धन से छूटना चाहिए ॥192-193॥

परम पद प्राप्ति का कारण

मानस्तम्भं दृढं भंक्त्वा, लोभाद्रिं च विदार्य वै।
मायावल्लीं समुत्पाट्य, क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥194॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य, चारित्रं ध्यानतत्परः।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा, प्राप्नोति परमं पदम् ॥195॥

यह प्राणी मान के सुदृढ़ स्तम्भ को तोड़कर, लोभ रूपी पर्वत का विदारण कर, मायाचार की बेल को उखाड़ कर, क्रोध रूपी शत्रु को मार कर, शुभ

एवं शुद्ध ध्यान में तत्पर हो, हितकारी चारित्र को प्राप्त कर और कर्मों का क्षय करके मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है।

कर्मों का क्षय होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती हे। कर्मो के क्षय का साधन है-शुक्लध्यान के द्वारा यथाख्यात वीतराग चारित्र की प्राप्ति। वीतराग चारित्र के घातक हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय। इन कषायों के कारण ही प्राणी संसार में भटकता है और जन्म-मरण के दु:खों को भोगता है। अत: सर्व प्रथम आत्मा के शत्रु कषायों का हनन करना चाहिए तथा आत्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरण चारित्र एव शुक्ल ध्यान के अभ्यास से कर्मों का नाश कर मुक्तिपद प्राप्त कर मानवपर्याय को सफल करना चाहिए॥194-195॥

14. उत्तम पात्र

साधु

संगादिरहिता: धीरा: रागादिमलवर्जिता:।
शान्ता:दान्तास्तपोभूषा:,मुक्तिकांक्षणतत्परा:॥196॥
मनोवाक्काययोगेषु, प्रणिधानपरायणा:।
वृत्ताढ्या: ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापरा:॥197॥
धृतिभावनया युक्ता:, शुभभावनयान्विता:।
तत्त्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमा:॥198॥

जो आरम्भ और परिग्रह से रहित हैं, परीषहों को सहन करने मे समर्थ हैं, रागद्वेषादि मलों से रहित हैं, शान्त स्वरूप हैं, इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, तप रूपी आभूषणों के धारक हैं, मोक्षप्राप्ति की भावना में लीन हैं, मन-वचन और काय रूप योगों को जीतने में उद्यमशील हैं—अहिंसादिव्रतों के धारी हैं, आत्मध्यान में लीन रहते हैं, परम दयालु हैं, धैर्य की भावना से युक्त हैं, शुभ भावों से संयुक्त हैं और जिनका चित्त तत्त्वार्थ के चिन्तन में मग्न हैं, वे ही साधु दाता के लिए उत्तम पात्र हैं।

आगम में पात्र के तीन भेद किए है, उत्तम, मध्यम और जघन्य। जघन्य पात्र सम्यग्दृष्टि है। मध्यम पात्र पंचम गुणस्थान-वर्ती श्रावक, आर्यिका आदि

हैं और उत्तम पात्र दिगम्बर मुनि हैं। यहाँ पर उत्तम पात्र का लक्षण किया है—जो मोह-ममता के बर्द्धक सर्व परिग्रह और आरम्भ का त्याग कर निस्सग निर्ग्रन्थ अवस्था के धारक हैं, जिन्होंने विभाव भाव स्वरूप राग-द्वेष आदि मलों का विनाश कर दिया है। जैसे मल-मूत्रादि मल शरीर को अपवित्र करते हैं, उसी प्रकार राग-द्वेषादि भाव आत्मा को अपवित्र, निन्दनीय बना देते हैं, इसलिए इनको मल कहते हैं। सुख में, दु:ख में, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ में समता भाव रखने वाले होने से जो शान्त हैं, इन्द्रियविषयों का दमन करने से जो दान्त हैं, अनशन अवमौदर्य आदि बहिरग एवं प्रायश्चित्तादि अन्तरग तपरूपी भूषण से जो अलकृत हैं: निरन्तर मुक्ति रूपी स्त्री की प्राप्ति मे जो तत्पर रहते हैं, मन, वचन, काय रूपी योगों को वश में करके निरन्तर ध्यान करने मे जो लीन रहते हैं, अहिसा आदि व्रतो से जो विभूषित हैं, परम दयालु हैं अर्थात् त्रस-स्थावर जीवो की रक्षा करते हैं, दुष्ट-दुर्जन कृत दुर्वचन उपसर्ग होने पर भी जो धृति भावना से उन सबको सहन करते हैं, क्रोध नहीं करते। जिनके मन मे कभी अशुभ भावना नहीं होती, शुभ-शुद्ध भावना मे ही जो लीन रहते हैं, तत्वो के चिन्तन मे ही जिनका मन निरन्तर सलग्न रहता है, जो आत्मचिन्तन, मनन और ध्यान मे उत्सुक रहते हैं, ऐसे साधु ही उत्तम पात्र हैं। ऐसे आत्मज्ञानी महासन्त उत्तम पात्रों को दान देना धर्मनिष्ठ श्रावक का दैनिक कर्त्तव्य है। उत्तम पात्र के अभाव मे जघन्य और मध्यम पात्र को भी श्रद्धा भक्ति पूर्वक दान देना चाहिए।

उत्तम पात्र क्या करते हैं

धृतिभावनया दु:खं, सत्यभावनया भवम्।
ज्ञानभावनया कर्म, नाशयन्ति न संशय:॥199॥

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि महात्मा दु:ख को धृतिभावना से, जन्म मरण रूप संसार को सत्य तत्त्वज्ञान की भावना से और कर्मों को ज्ञानभावना से नष्ट करते हैं, इसमें कोई सशय नहीं है।

पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से आये हुए दु:ख को समता एवं धैर्य से सहन कर लेने से पुरातन कर्मों की निर्जरा और नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है।

यदि बन्ध होता भी है तो बहुत अल्प होता है। कर्मबन्ध के नाशका कारण है—कषायों का अभाव। कषायों के अभाव का कारण है तत्त्वाभ्यास। ज्ञानीजन निरन्तर तत्वाभ्यास के द्वारा कषायों को जीतकर संसार का नाश करने का प्रयत्न करते हैं।

समीचीन ज्ञानभावना, आत्मानुभवरूप सम्यग्ज्ञान ही संसार के कारणभूत कर्मों के क्षय का कारण है, इसमें कोई संशय नहीं है, अतः आत्मकल्याण के इच्छुक सम्यग्दृष्टि मानव यथार्थ ज्ञानाभ्यास, आत्मप्रतीति तथा चारित्र अनुष्ठान से अपनी आत्मा का उद्धार करते हैं। उन्हीं उत्तम पात्रों का जन्म सफल है ॥199 ॥

यतिगणों में मुख्य उत्तम पात्र

आग्रहो हि शमे येषां, विग्रहं कर्मशत्रुभिः।
विषयेषु निरासंगास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥200 ॥

शमभाव में रहना ही जिनका आग्रह (प्रतिज्ञा) है, कर्म शत्रुओं के साथ जिनका विग्रह (युद्ध) है और पंचेन्द्रिय-विषयों में जिनकी निरासक्ति है, वे यतिजनों में मुख्य उत्तम पात्र हैं।

उत्तम पात्र साधुओं के मन में यह दृढ़ प्रतिज्ञा होती है कि हम कभी शान्त भाव का नाश नहीं करेगे, अनेक उपसर्गों के पड़ने पर भी हम क्रोध नहीं करेंगे, क्षमा को नहीं त्यागेंगे। जो आत्मा के गुणों को ही अपना धन समझते हैं इसलिए वे सर्व इन्द्रियों के विषयों के पदार्थों से वैरागी हैं। सर्व पदार्थों से पूर्णतया असंग हैं, रहित हैं तथा जिन साधुओं ने इस बात पर कमर कसी है कि वे कर्मरूपी शत्रुओ को अवश्य जीतकर मुक्ति का राज्य प्राप्त करेंगे, ऐसे ही वीर निस्पृह वीतरागी साधु ही उत्तम होते हैं ॥200 ॥

योगियों की पात्रता

निःसंगिनोऽपि वृत्ताढ्या निस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः।
अभूषाऽपि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा ॥201 ॥

जो परिग्रह रहित होने पर भी चारित्र के धनी हैं, जगत् के पदार्थों से स्नेह रहित होकर भी सुश्रुत जिनवाणी के प्रेमी हैं, आभूषण रहित होते हुए भी तपरूपी आभूषण के धारी हैं, ऐसे योगी सदा उत्तम पात्र हैं।

जैन दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, जिन्होने वस्त्रादि सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया है, तथापि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्र के धनी हैं। स्त्री-पुत्र कुटुम्बादि के स्नेह को छोड़ चुके हैं तो भी आत्मज्ञान की बुद्धि के हेतु सच्चे शास्त्रों के पठन-पाठन, मनन-चिन्तन में बड़ी ही प्रीति रखते हैं, यद्यपि कोई गहना उनके शरीर पर नहीं है तो भी उपवास आदि बारह तपों के साधन से विभूषित हैं। ऐसे ही योगी उत्तम पात्र हैं ॥201 ॥

उत्तम पात्र

यैर्ममत्वं सदा त्यक्त, स्वकायेऽपि मनीषिभिः।
ते पात्रं संयतात्मानः, सर्वसत्त्वहिते रताः ॥202 ॥

जिन महापुरुषों ने अपने शरीर से भी सदा के लिए ममता का त्याग कर दिया है, अर्थात् जिनको शरीर की भी ममता नहीं हैं, जो प्राणी मात्र के हित मे लवलीन हैं, ऐसे सयमी ही उत्तम पात्र हैं।

निर्ग्रन्थ साधु उत्तम पात्र हैं जो शरीर के राग के भी त्यागी हैं। शरीर सयम का साधक है। इसके सहारे से तप किया जाता है। इसलिए शरीर को जो कुछ रूखा-सूखा भोजन मिल जावे, उसे देकर पालते हैं। जो ऐसे दयावान हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर वृक्षादि को भी कष्ट नहीं देते हैं, देखकर चलते हैं, उठाते-धरते हैं। प्राणीं मात्र के हितैषी हैं। सर्व जीवों को सत्य धर्म का उपदेश देते हैं। तथा पाँचो इन्द्रियों व मन को वश में रखने वाले हैं तथा सामायिकादि सयमो को भले प्रकार पालते हैं। ऐसे ही महात्मा उत्तम पात्र हैं जिनको बड़ी भक्ति से दान देकर गृहस्थ को अपना जन्म सफल मानना चाहिए ॥202 ॥

श्रावकोचित किया से रहित कौन?

परीषहजये शक्तः, शक्तः कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपो भूष, शुद्धाचरणपरायणं ॥203 ॥

प्रशान्तमानसं सौख्यं, प्रशान्तकरणं शुभं।
प्रशान्तारिमहामोहं, कामक्रोधादिसूदनम्॥204॥
निन्दास्तुतिसमं धीरं, शरीरेऽपि च निस्पृहं।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं, जितलोभमहाभटम्॥205॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तं, सिद्धिसंगमनोत्सुकम्।
ज्ञानाभ्यासरतं नित्यं, नित्यं च प्रशमे स्थितम्॥206॥
एवंविधं हि यो दृष्ट्वा, स्वगृहाङ्गणमागतम्।
मात्सर्यं कुरुते मोहात्, क्रिया तस्य न विद्यते॥207॥

जो बाईस परीषहो को सहन करने में समर्थ हैं, कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यमशील हैं, ज्ञान-ध्यान एव तपरूपी आभूषण के धारी हैं, शुद्ध चारित्र के पालन में लवलीन हैं, जिनका मन शान्त है, जो आत्मीय सुख के भोक्ता हैं, आनन्दमय हैं, जिनकी पाँचों इन्द्रियों की इच्छायें शान्त हो चुकी हैं, जो शुभ आचरण के कर्त्ता हैं, जो मोहरूपी महान् शत्रु को शान्त कर चुके हैं, जो काम क्रोध आदि के नाशक हैं, जो निन्दा-स्तुति में समभाव धारी हैं, क्षमाशील धैर्यवान हैं, शरीर में भी जिनकी स्पृहा नहीं हैं, इन्द्रियों के विजेता हैं, जीत लिया है क्रोध और लोभरूपी महाभट को जिन्होंने, जो रागद्वेष से रहित हैं, जो सिद्ध गति की सगति पाने के लिए मन मे बड़े उत्सुक हैं, निरन्तर शास्त्रज्ञान के अभ्यास में रत रहते है और जो नित्य हो प्रशम भाव मे स्थित हैं, ऐसे महान् योगी को अपने घर के आँगन तक आए हुए देखकर भी जो मोह के वशीभूत होकर उनके साथ ईर्षा करता है, उनका सत्कार करके दान नहीं देता है, उस श्रावक के क्रिया नहीं है— अर्थात् वह श्रावक की क्रिया से रहित है।

इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने 11 श्लोकों में उत्तम पात्र का वर्णन किया है और एक श्लोक में कहा कि परीषहजयी, कर्मों के नाश करने वाले आदि उपरि लिखित गुणों से विशिष्ट महान् वैरागी, निस्पृह आत्मज्ञान, ध्यान में रत, वीतरागी निर्ग्रन्थ साधु को घर पर आए हुए देखकर जो उनका सम्मान नहीं करता है, उनको दान नहीं देता है, वह स्वयं मिथ्यादृष्टि है, धर्म क्रियाओं से शून्य है, वह श्रावक की क्रिया को और पात्रदान के माहात्म्य को नहीं जानता

है और यह भी नहीं जानता है कि दान की प्रवृत्ति के बिना श्रावक के घर की शोभा नहीं होती ॥203-207 ॥

15. मोक्षमार्ग-पथिक

अक्षय पद की प्राप्ति का उपाय

मायां निरासिकां कृत्वा, तृष्णां च परमौजसः।
रागद्वेषौ समुत्सार्य, प्रयाता पदमक्षयम् ॥208 ॥

परम तेजस्वी वीर पुरुष मायाचार और तृष्णा को दूर कर तथा रागद्वेष का नाशकर अविनाशी मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं।

संसार का मूल कारण है तृष्णा एवं विषयों की लोलुपता। तृष्णा एवं विषय लोलुपता के कारण ही इष्ट पदार्थों मे राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष होता है। रागद्वेष ही बन्धके कारण हैं, अत: इन्हीं के नाश से कर्मों का क्षय कर आत्मा मुक्तिपद को प्राप्त करता है। सम्यग्दृष्टि धीर वीर पुरुष साहस करके आत्म ध्यान में लीन हो क्षपक क्षेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञानी बन जाते हैं। फिर अघातिया कर्मो का क्षय कर शुद्ध और कृत-कृत्य हो अविनाशी स्वात्म स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और संसार के दु:खों से सदा के लिए छूट जाते हैं ॥208 ॥

धीरों में धीर

धीराणामपि ते धीरा, ये निराकुलचेतसः।
कर्मशत्रुमहासैन्यं, ये जयन्ति तपोबलात् ॥209 ॥

जो निराकुल चित्त वाले हैं, तथा जिन्होने तपोबल से कर्म शत्रुओं की महासेना को जीत लिया है, वे धीरपुरुषों मे भी महाधीर हैं।

जगत् के शत्रुओ को जीतना कोई वीरता की बात नहीं है। धन्य हैं वे महापुरुष जो निर्ग्रन्थ होकर आगमानुसार चारित्र पाल कर बाईस परीषहों को सहते हुए परम क्षमाभाव के साथ तप करते हैं और वीतरागता व समता को महत्त्व देते हुए आत्मानन्द का भोग करते हैं। उन्हीं के कर्मों की निर्जरा होती है

और नवीन कर्मों का संवर होता है। वे मोह को पददलित करते हुए निर्मोहभाव में बढ़ते हुए शुद्ध परमात्मा हो जाते हैं ॥209 ॥

शूरवीर कौन है।

परीषहजये शूराः, शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये शूरास्ते शूराः गदिताः बुधैः ॥210 ॥

जो क्षुधा, तृषा आदि 22 परीषहों को सहन करने में समर्थ हैं, जो पाँचों इन्द्रियो को वश में रखने में वीर हैं और जो क्रोधादि कषायों को जीतने मे योद्धा हैं, ज्ञानियो ने उन्हीं को सच्चा शूरवीर योद्धा कहा है।

आत्मा के मुख्य शत्रु हैं विषय और कषाय। इन पर विजय प्राप्त कर लेने पर सब पर विजय हो जाती है। इसी से सहन शीलता, धैर्य आदि गुण प्राप्त होते हैं। विषयवासनाओ को जीतने वाला मानव ही इन्द्रियविजयी होता है। वही पुरुष आपत्ति काल में धीर-वीर रहता है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि परीषहजयी, इन्द्रियविजयी और कषायो पर विजय प्राप्त करने वाला धीरों में धीर, वीरों में वीर और शूरो में शूर है। वे ही मानव आपत्ति आने पर आकुलित न होकर वज्र के समान धीर-वीर बने रहते हैं और उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्म के आधार से वा व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रय शुद्धात्मा के अनुभव का आस्वादन करते हुए विषयकषायों को जीत कर वन्दनीय पूजनीय सच्चे वीर बन जाते हैं ॥210 ॥

पुरातन कर्म निर्जरा का कारण

नादत्तेऽभिनवं कर्म, सच्चारित्रनिविष्टधीः।
पुराणं निर्जयेद्गाढं, विशुद्धध्यानसंगतः ॥211 ॥

सम्यक्चारित्र के पालन करने में तत्पर बुद्धि वाला ज्ञानी विशुद्ध ध्यान की सगति से नवीन कर्मों का आस्रव नहीं करता है। और पुराने कर्मों की अत्यधिक निर्जरा करता है।

व्यवहार और निश्चय चारित्र ही कर्मनिर्जराका कारण है। पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना व्यवहार चारित्र है तथा अपने

स्वरूप में लीन हो जाना या बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण क्रियाओं का निरोध हो जाना ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्प को मेट कर निर्विकल्प समाधि में लीन होना निश्चय चारित्र है। यह निश्चय चारित्र ही साम्य भाव शुद्धोपयोग व शुक्ल ध्यान है। इसी के द्वारा ज्ञानीजन पुरातन कर्मों की निर्जरा और नूतन कर्मों के आस्रव का निरोध (संवर) करते हैं। अतएव तत्त्वज्ञानी जीव समता भाव के साथ प्रयत्न पूर्वक आत्मध्यान का अभ्यास करते हुए आत्मशुद्धि करते हैं, वे ही धीर-वीर पुरुष धन्य हैं ॥211॥

पण्डित और ठग

संसारावासनिर्वृत्ताः, शिवसौख्यसमुत्सुकाः।
सद्भिस्तेगदिताःप्राज्ञाःशेषाःस्वार्थस्यवंचकाः ॥212॥

ज्ञानी सत्पुरुषों के द्वारा कहा गया है कि जो ससार के भ्रमण से उदास हैं तथा कल्याणमय मोक्षसुख के लिए' अत्यन्त उत्साही हैं, वे ही बुद्धिमान् पण्डित हैं। इनसे विपरीत सारे प्राणी अपने आत्मा के पुरुषार्थ को ठगने वाले हैं।

जो स्वसंवेदनज्ञान एवं श्रुतज्ञान के द्वारा यह निश्चय कर चुके हैं कि चार गतिरूप संसार-वास त्याग कर निराकुलमय मोक्ष धाम ही ग्रहण करने योग्य है, वही शुद्धात्मा की अवस्था है, ऐसे निश्चयी ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं, वे ज्ञानी पण्डित हैं, केवल अक्षरज्ञानी पण्डित नहीं हो सकता। जो केवल शास्त्रों को जानते हैं, भव्य जीवों को, यह संसार हेय है दुःख से परिपूर्ण है, विनाशशील है, ऐसा उपदेश देते हैं तथापि स्वयं आत्महित के मार्ग में नहीं लगते हैं, ऐसे पुरुष शास्त्रज्ञ पण्डित नहीं हो सकते हैं , वे तो निरन्तर विषयवासनाओं की मदिरा में डूब कर अपने आपको भूल जाते हैं, वे अपनी आत्मा को ठगने वाले ठग हैं। वे स्वयं को ठगते हुए नरक में गिरकर अनन्त दुःख भोगते हैं ॥212॥

उत्तम पद को प्राप्त करने वाले

समतां सर्वभूतेषु, यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥213॥

जो शुद्ध मन धारी मानव सर्व जीवों में समता भाव रखता है वह ममत्व भाव से निर्मुक्त हो अव्यय (अविनाशी) पद प्राप्त कर लेता है।

सर्व जीवों के साथ रागद्वेष रहित समताभाव और सांसारिक पदार्थों से निर्ममत्व ही मुक्ति का कारण है। ये ही रागद्वेष, विषयलोलुपता, आकुलता आदि विभाव भावों के नाशक हैं। इसी समता भाव से आत्मध्यान की वृद्धि होने से सवंर और निर्जरा विशेष होती है। अतः साम्य भाव का अभ्यास करना चाहिए ॥213 ॥

शूर का लक्षण

इन्द्रियाणां जये शूराः, कर्मबन्धे च कातराः।
तत्त्वार्थाहितचेतस्काः स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः ॥214 ॥
परीषहमहाराति वननिर्दलनक्षमाः।
कषायविजये शूराः, स शूर इति कथ्यते ॥215 ॥

जो पाँचों इन्द्रियो को जीतने में शूर हैं तथा कर्म बाँधने मे कायर हैं, तत्त्वार्थ के चिन्तन में जिनका मन स्थिर है, जो अपने शरीर में भी निस्पृह है, जो बाईस परीषह रूपी शत्रुओं के वन को नाश करने में समर्थ हैं और जो कषायो को जीतने में योद्धा हैं, वे ही सच्चे शूर कहे जाते हैं।

जो महाव्रती निर्ग्रन्थ आचार्य तत्त्वज्ञान के द्वारा पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयवासनाओं से विरक्त होकर कर्मबन्ध से भयभीत हो निरन्तर तत्त्वार्थ के मनन, पठन चिन्तन में लगे रहते हैं, जो अपने शरीर से भी विरक्त हैं, निर्मोही हैं तथा परीषह रूपी मल्लों को पछाड़ने मे समर्थ हैं और कषायों पर विजय प्राप्त कर वीतराग बन गए हैं, वे ही सच्चे वीर, धीर, शूर होते हैं ॥124-215 ॥

परम पद को प्राप्त करने वाले

संसारध्वंसिनीं चर्यां, ये कुर्वन्ति सदा नराः।
रागद्वेषहतिं कृत्वा, ते यान्ति परमं पदम् ॥216 ॥

जो मानव निरन्तर संसार-नाशक क्रिया करते हैं और चारित्र का पालन करते हैं, वे रागद्वेष का नाश कर परम पद को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ यतिराज संसार को दु:खों का घर समझ कर इसका विध्वंस करने के लिए सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं। कारणस्वरूप वा भेदरूप व्यवहार चारित्र के माध्यम से कार्य स्वरूप वा अभेदरूप निश्चय चारित्र का पालन कर स्वात्मानुभव के आनन्द में मग्न हो परम समता भाव से रागद्वेष का नाश कर अक्षय, अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥216॥

ज्ञानाभ्यास का पात्र

मलैस्तु रहिताः धीराः, मलदिग्धाङ्गयष्टयः।
सद्ब्रह्मचारिणो नित्यं, ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे ॥217॥

मल से व्याप्त शरीर वाले होते हुए भी जो रागद्वेष मिथ्यात्व आदि विभाव रूपी मैल से रहित हैं और सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, ऐसे योगी ही सदा ज्ञानाभ्यास करते रहते हैं।

दिगम्बर साधु हिसा के कारणभूत स्नान करने के त्यागी होते हैं। उनका शरीर यद्यपि मैल से लिप्त रहता है– परन्तु उनका मन अति उज्ज्वल होता है। वह रागद्वेष मिथ्यात्व आदि मैल से मलिन नहीं होता है। वे निश्चय एव व्यवहार चारित्र का अतिचाररहित पालन रहते हैं, पर पदार्थ में रमण का परित्याग कर वे निरन्तर अपने स्वरूप में ही रमण कर निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, वे धीर-वीर निरन्तर शास्त्रों का पठन और आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं।

अब्रह्म और असदाचार ज्ञानार्जन के विरोधी हैं अत: अब्रह्म और असदाचार का त्याग कर ब्रह्मचर्य और सम्यक्चारित्र को धारण कर ज्ञानाभ्यास करना चाहिए ॥217॥

आत्महित की प्राप्ति

ज्ञानभावनया सिक्ता, निभृतेनान्तरात्मनः।
अप्रमत्तं गुणं प्राप्य, लभन्ते हितमात्मनः ॥218॥

अत्यन्त ज्ञान-भावना से सिक्त सम्यग्दृष्टि अन्तर आत्मा अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर अपनी आत्मा का हित करते हैं।

जिन अन्तर-आत्माओं का चित्त ज्ञानभावना से अनुरंजित है, किंचित्मात्र भी प्रमाद उनका स्पर्श नहीं कर रहा है, ऐसे अन्तरात्मा योगी अप्रमत्त (सातवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की अवस्था अप्रमत्त कहलाती है) गुणस्थान को प्राप्त कर सर्व कर्मों का क्षय कर आत्महित प्राप्त करते हैं ॥218 ॥

प्रशंसनीय जीवन

संसारवासभीरूणां, त्यक्तान्तर्बाह्यसंगिनाम्।
विषयेभ्योनिवृत्तानां श्लाघ्यं तेषां हि जीवितम्॥219॥

ससार-भ्रमण से भयभीत, अन्तरग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी और पचेन्द्रिय विषयों से विरक्त महात्माओ का जीवन ही प्रशंसनीय है।

जो मोक्षमार्ग की साधना करते हैं और आत्मविशुद्धि का प्रयत्न करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। जो साधु संसार के दुःखो से भयभीत रहते हैं, जिन्होंने धन, धान्य, दासी, दास, क्षेत्र, घर, हिरण्य (चादी), सुवर्ण, कुप्य, भाण्ड आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का तथा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुवेद व नपुंसकवेद इन चौदह प्रकार के अन्तरग परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो पचेन्द्रियों के विषयो से अत्यन्त विरक्त रहते हैं, उन्हीं महात्माओ का जीवन धन्य, प्रशसनीय और वन्दनीय होता है॥219॥

मानव-जन्म निष्फल है

समः शत्रौ च मित्रे च, समो मानापमानयोः।
लाभालाभे समो नित्यं, लोष्ठकाञ्चनयोस्तथा॥220॥
सम्यक्त्वभावनाशुद्धं, ज्ञानसेवापरायणः।
चारित्राचरणासक्त-मक्षीणसुखकांक्षिणम्॥221॥
ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा, यो न मन्येत दुष्टधीः।
नृजन्मनिष्फलं सारं, संहारयति सर्वथा॥222॥

जो महात्मा शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, लाभ और अलाभ मे, लोष्ठ (पत्थर) और सुवर्ण में सदा समभाव रखते हैं, जिनकी भावना सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, जो निरन्तर ज्ञान सेवा में परायण हैं, जो सम्यक्चारित्र के आचरणों

में लीन हैं और अविनाशी आत्मीय सुख के इच्छुक हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ साधु को देखकर जो दुष्ट बुद्धि मानव उनकी भक्ति-सत्कार नहीं करता है, उसका मानव-जीवन निरर्थक होता है। वह मानव-जीवन के सार को सर्वथा नष्ट कर देता है।

जिनेन्द्रदेव प्रणीत शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाले जितेन्द्रिय वीतराग, साधु ही सच्चे मोक्षमार्गी साधु होते हैं। जिनके दर्शन मात्र से अनन्त भवोपार्जित कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसे महासन्त पुरुषों को घर पर आए हुए देखकर जो नवधा भक्ति पूर्वक आहार नहीं देते हैं, अज्ञानी, अभिमानी दुष्ट मानव साधुओ को देखकर मुख फेर लेते हैं, उनकी अर्चा, पूजा, वन्दना न करके उनकी निन्दा करते हैं, वे मानव देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से रहित बहिरात्मा कहलाते हैं वे मानव-जन्म के सार को नष्ट कर व्यर्थ संसार में भटकते हैं। उनका मन इस लोक मे पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है और वे परलोक में दुर्गति के पात्र बनते हैं। अतः नर-जन्म को सफल करने के लिए मुनिराज को देखकर उनकी वन्दना, स्तुति, पूजा एवं सत्कार करना चाहिए तथा आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान देकर अपने जीवन को सफल करना चाहिए ॥220-222॥

तप का आचरण

रागादिवर्द्धनं संगं, परित्यज्य दृढव्रताः।
धीरा निर्मलचेतस्का, तपस्यन्ति महाधियः ॥223॥

रागद्वेष को बढ़ाने वाले परिग्रह का त्याग कर दृढ़व्रती महान् बुद्धिमान् निर्मल चित्त के धारक धीर-वीर महापुरुष सम्यक् तप का आचरण करते हैं।

''तपसा निर्जरा च'' इस सूत्र से तपश्चरण के द्वारा ही कर्मों की निर्जरा होती है, परन्तु तपश्चरण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित होता है। अतः तपस्वी जन अन्तरंग-बहिरंग सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर, भूख-प्यास आदि बाईस परीषहों को सहन कर अहिंसादि महाव्रतों का दृढ़ता से पालन करते हुए माया, मिथ्या, निदान आदि शल्यों का निष्कासन कर परम

धैर्य के साथ बारह प्रकार के तपों का आचरण करते हैं तथा आत्मध्यान की साधना करते हैं ॥223 ॥

जीवन की सफलता

संसारोद्विग्नचित्तानां, निःश्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसंगनिवृत्तानां, धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥224 ॥

संसार से उद्विग्न चित्तवाले, मोक्षसुख के अभिलाषी और सर्व परिग्रह से रहित साधुओं का जीवन धन्य और प्रशंसनीय है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चारों पुरुषार्थो में मोक्ष पुरुषार्थ सर्वोत्कृष्ट है। इसकी प्राप्ति होने पर प्राणी सर्व दुःखों से छूट जाता है और वह अपनी स्वाभाविक अमूल्य आत्मसम्पदा को प्राप्त कर लेता है। मोक्षपुरुषार्थ को वही प्राप्त कर सकते हैं जो निष्परिग्रही, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द पाने की भावना रखते हैं। जो परमऋषि मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करते हैं, उनका ही मानव जीवन सफल है और वे ही वन्दनीय, प्रशंसनीय और नमस्कार करने योग्य होते हैं ॥224 ॥

जीवन की सफलता

सप्तभीस्थानमुक्तानां, यत्रास्तमितशायिनाम् ।
त्रिकालयोगयुक्तानां, जीवितं सफलं भवेत् ॥225 ॥

उन्हीं मानवों का जीवन सफल होता है, जिनका चित्त सात प्रकार के भय-स्थानों से विमुक्त है, जो जहाँ पर सूर्य अस्त होता है, वहीं पर शयन करते हैं, रात्रि में गमन नहीं करते हैं तथा जो वर्षा, शीत और उष्ण इन तीनों कालों में योग धारण करने वाले हैं।

भय सात प्रकार के होते हैं—1. इहलोक भय—लोग क्या कहेंगे, मेरी बदनामी करेंगे ऐसा भय होना। 2 परलोक भय—परलोक में मैं कहीं दरिद्रता आदि दुःखों से व्याप्त दुःखमय गति में तो नहीं चला जाऊँगा। 3 वेदना भय—मेरे शरीर में कोई रोग आधि-व्याधि उत्पन्न न होवे। 4 अरक्षा भय—मेरा कोई रक्षक नहीं है, अब मैं क्या करूँ। 5. अगुप्ति भय—मेरी वस्तुओं को रखने का कोई गुप्त स्थान नहीं है, मैं अपनी वस्तुओं को किस स्थान मे

सुरक्षित रखूँ। 6 मरण भय—कहीं मेरा मरण तो नहीं हो जायेगा, ऐसा भय और 7 अकस्मात् भय—अकस्मात् कहीं मेरा मरण न हो जावे या कोई आपत्ति नहीं आ जावे।

जिनके पास आरम्भ और परिग्रह है, वे निर्भय होकर भू-मण्डल पर यत्र-तत्र विचरण नहीं कर सकते। जो आरम्भ परिग्रह से रहित है, वे ही मानव निर्भय होकर इच्छानुसार इस भू-मण्डल पर विचरण करते है। समतारस के स्वादी वीतरागी मुनि परम दयालु होते हैं। अत: वे परमयति दिन में ही प्रासुक जन्तु रहित भूमि पर विहार करते हैं जहाँ पर सूर्यअस्त हो जाता है, वहीं पर रात्रि के समय ठहर जाते हैं तथा तीनों कालों मे योग धारण कर आत्मध्यान करते हैं। इस प्रकार की क्रियाओ मे रत होकर जो अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हीं साधुओं का जीवन सफल है॥225॥

निर्वाण-सुख की प्राप्ति का कारण

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद्, धर्मशुक्लसमाश्रयात्।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं॥226॥

आर्त्तरौद्रध्यान का त्याग करने से और धर्मध्यान एवं शुक्ल-ध्यान का आश्रय करने से जीव अनन्त सुख से परिपूर्ण अविनाशी निर्वाण (स्वात्मस्थिति रूप मोक्षपद) को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान चार प्रकार का है—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमे प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त हैं और शेष दो प्रशस्त।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है—1. **इष्ट-वियोगज**—पुत्र, कलत्र आदि इष्ट पदार्थों के वियोग से होने वाले सक्लेश परिणाम। 2. **अनिष्ट-संयोगज**—अनिष्ट कण्टकादि पदार्थों के सयोग से उत्पन्न होने वाले सक्लेश परिणाम। 3. **पीडाचिन्तन**—शारीरिक पीड़ा-जनित संक्लेश परिणाम। 4. **निदानज**—आगामी भोग-वस्तुओं की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्तन करना।

रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है—1. **हिंसानन्दी**—जीवों की हिंसा में आनन्द मानना। 2. **मृषानन्दी**—असत्य में आनन्द मानना। 3. **चौर्यानन्दी**—चोरी में आनन्द मानना। 4. **परिग्रहानन्दी**—परिग्रह-संचय में

आनन्द मानना। ये चारों प्रकार के आर्त्त ध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यान नरक, तिर्यञ्च गति के कारण हैं। ये संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं—1. **आज्ञाविचय**—जिनेन्द्र की आज्ञानुसार जीवादि तत्त्वों का विचार करना। 2. **अपायविचय**—अपने और दूसरों के रागादिभावों का एवं कर्मों का नाश कैसे हो यह विचार करना। 3. **विपाकविचय**—कर्मों के शुभ व अशुभ फल का विचार कर समभाव रखना। 4. **संस्थानविचय**—लोक के आकार या आत्मा के स्वरूप का विचार करना। यह ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तविरत सातवें गुणस्थान तक होता है।

शुक्लध्यान भी चार प्रकार का है—1. **पृथकत्ववितर्क वीचार**—जहाँ अबुद्धिपूर्वक योग से अन्य योग, शब्द से अन्य शब्द, ध्येय पदार्थ से अन्य ध्येय पर पलटना हो सके। 2. **एकत्व वितर्क अवीचार**—जहाँ एक ही योग द्वारा, एक ही शब्द द्वारा एक ही ध्येय पर जमा जावे। 3. **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति**—जहाँ काययोग का सूक्ष्म हलन-चलन रह जावे। 4. **व्युपरतक्रियानिवृत्ति**—जहाँ सर्व योगो का निरोध हो जावे। आठवें गुणस्थान से बारहवे के प्रारम्भ तक पहला शुक्लध्यान रहता है, बारहवे में दूसरा होता है, तेरहवें के अन्त में तीसरा और चौदहवे गुणस्थान मे चौथा शुक्लध्यान होकर यह जीव सिद्ध हो जाता है।

इन चार प्रकार के ध्यानो मे आर्त्तरौद्र रूप अप्रशस्त ध्यान का त्याग करना चाहिए। क्योंकि ये दो ध्यान संसार के कारण हैं। अतः इन दोनो का परित्याग कर तथा धर्मध्यान, शुक्लध्यान का आश्रय लेकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहिए ॥226॥

स्वहित का साधन

आत्मानं विनयाभ्यासे, विषयेषु पराङ्मुखः।
साधयेत् स्वहितं प्राज्ञो, ज्ञानाभ्यासरतो यतिः ॥227॥

पचेन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख, ज्ञानाभ्यास में रत, प्राज्ञ, भेदविज्ञानी, यतिराज अपनी आत्मा को चारित्र के अभ्यास में लीन कर आत्महित की साधना करते हैं।

इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहने वाले तथा तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञान का अभ्यास करने वाले यतिराज ही आत्मोन्नति के पथ पर चल सकते हैं। अतः जिनागम के अभ्यास, मनन में तथा चारित्र के पालन में क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥227 ॥

मोक्षपद की निकटता

यथा संगपरित्यागस्तथा कर्मविमोचनम्।
यथा च कर्मणां छेदस्तथासन्नं परं पदम् ॥228 ॥

जैसे-जैसे परिग्रह के ममत्व का त्याग किया जाता है वैसे-वैसे कर्मों की निर्जरा होती है और जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा होती है, वैसे-वैसे परम पद समीप आता जाता है।

यद्यपि मुनिपद धारण करते समय सकल अन्तरग और बहिरंग परिग्रह का त्याग किया जाता है तथापि जब तक हृदय मे कषायकणिका अवस्थित है, तब तक परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं होता। क्योंकि कषाय अन्तरंग परिग्रह है इसीलिए पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्था 11 वें गुणस्थान में होती है। आत्मध्यान की निर्मल जलधारा से जैसे-जैसे कषाय कीचड़ धुलती जाती है, वैसे-वैसे यह आत्मा-आत्मोत्थान के सोपान पर आरूढ़ होता जाता है, जैसे-जैसे कषाय-कीचड नष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे वीतराग भावो की अधिकता होने से कर्मों की निर्जरा विशेषहोती है और नूतन कर्मों का सवर होता है। नूतन कर्मों का निरोध और पुरातन कर्मों की निर्जरा होने से मुक्तिपद निकट आ जाता है ॥228 ॥

शरीर से भी ममता छोड़ो

यत्परित्यज्य गन्तव्यं, तत् स्वकीयं कथं भवेत्।
इत्यालोच्य शरीरेऽपि, विद्वान् तां च परित्यजेत् ॥229 ॥

जिस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा, वह शरीर अपना कैसे हो सकता है? ऐसा विचार कर भेदविज्ञानी विद्वान् अपने शरीर में भी आसक्ति ममत्व भाव को छोड़ देते हैं।

धन-धान्य, पुत्र, कलत्र, घर आदि का तो त्याग कर देना सम्भव है, क्योंकि वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, परन्तु दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाही होकर रहने वाले शरीर का परित्याग करना सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीर ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे वस्त्रादि के समान आत्मा से अलग करके रखा जा सके तथापि साधुगण इसे संयम का साधन समझ कर भोजन आदि के द्वारा इसकी रक्षा करते हुए भी इसमें ममता नहीं रखते। वे जानते हैं कि शरीर पौद्गलिक है, विनाशशील है, आयुकर्म के आधीन है और मलमूत्र की खान है। साधुगण ऐसा विचार कर इस शरीर से ममता नहीं करते अपितु इसके द्वारा आत्मकल्याणार्थ सयम का पालन कर इसको सार्थक बनाते हैं ॥229 ॥

आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करने वाले

नूनं नात्मा प्रियस्तेषां, ये रताः सङ्गसङ्ग्रहे।
समासीनाः प्रकृतिस्थाः, स्वीकर्तुं नैव शक्यते ॥230 ॥

जो परिग्रह के सञ्चय करने में रत हैं, सुखपूर्वक विषयों मे बैठे हुए हैं, कर्मों के आधीन हैं, उनको निश्चय से आत्मा प्रिय नहीं होता और वे आत्मा की सत्ता (अस्तित्व) स्वीकार भी नहीं कर सकते।

जो संसारी प्राणी पचेन्द्रियो के विषय से उत्पन्न सुखो को अमृत की धार मानते हैं तथा उनकी पूर्ति के लिए निरन्तर धनोपार्जन में लगे रहते हैं, धार्मिक कार्यों मे जिनका उत्साह नहीं है, जिनकी परिणति विषयो और कषायों के आधीन हो रही है, वे बहिरात्मा आत्मा से प्रीति नहीं करते तथा उनको आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास भी नहीं हो सकता। वे आत्मा की बात सुनना भी नहीं चाहते हैं, यदि सुन लेते हैं तो उसे धारणा में नहीं लाते। इसका मुख्य कारण है अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व। अतः इसी के नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए ॥230 ॥

16. ममत्व एवं परिग्रह-त्याग से लाभ

विद्वान् शरीर के ममत्व को छोड़ें

शरीरमात्रसंगेन, भवेदारम्भवर्धनम्।
तदशाश्वतमत्राण, तस्मिन् विद्वान् रतिं त्यजेत् ॥231 ॥

शरीर मात्र परिग्रह से आरम्भ की वृद्धि होती है। यह अनित्य है, अशरण है अतः विद्वान् पुरुष इस शरीर में आसक्ति छोड़ देते हैं।

शरीर की आसक्ति ही सर्व अनर्थों की खान है। शरीर के लिए ही आरम्भ और परिग्रह में प्रवृत्ति होती है क्योंकि शरीर की पुष्टि करने के लिए परिग्रह-संचय करना पड़ता है और परिग्रह संचय में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहार्जन आदि पापों में प्रवृत्ति होती है। शरीर का ममत्व ही संसार की जड़ है। अतः ज्ञानीजन शरीर में प्रीति नहीं करते अपितु किंकर के समान शरीर को वश में करके इससे सयम की साधना करते हैं ॥231 ॥

परिग्रह ही दुःख की परम्परा है

संगात् संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वाञ्छति सञ्चयम्।
सञ्चयाद् वर्धते लोभो, लोभाद्दुःखपरम्परा ॥232 ॥

परिग्रह से गृद्धि (आसक्ति) उत्पन्न होती है और गृद्धिविषयों की लोलुपता से धनादिक के संचय की इच्छा होती है। धन के सचय से लोभ और लोभ से दुःख की परम्परा बढ़ती जाती है।

जिस मानव के हृदय मे शरीर के प्रति ममता है, उसके चित्त मे इन्द्रियभोगो की लोलुपता जागृत रहती है और उन विषयों की पूर्ति के लिए मानव परिग्रह का संचय करता है। जैसे-जैसे परिग्रह बढता है, वैसे-वैसे लोभ अधिक बढ़ता है—"यथा लाभः तथा लोभः, लाभात् लोभः प्रजायते" लाभ से लोभ बढ़ता रहता है। लोभ के वशीभूत हुआ मानव अन्याय में प्रवृत्ति करता है, पापाचार को पुष्ट करता है और उसके फलस्वरूप अशुभ कर्मों का उपार्जन कर नरकादि दुर्गतियों में जाकर असह्य दुःख भोगता है। अतः सारे दुःख की परम्परा शरीर की ममता है। इसलिए शरीर की ममता छोड़ संयम की आराधना करनी चाहिए ॥232 ॥

शरीर का ममत्व ही दुःख की परम्परा है

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागाश्च जायते।
रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषाद्दुःखपरम्परा ॥233 ॥

शरीर के ममत्व से लोभ कषाय उत्पन्न होती है। लोभ से राग और राग से द्वेष उत्पन्न होता है तथा द्वेष से दु:ख की परम्परा चलती रहती है।

शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी कुटुम्बीजनों के प्रति ममता भाव होने से उनका पोषण करने के लिए धनादिक के अर्जन में प्रवृत्ति होती है। धन की प्राप्ति होने पर अधिक मात्रा में लोभ बढ़ता रहता है। जो पदार्थ इष्ट हैं, उनकी प्राप्ति में राग होता है अर्थात् जिन पदार्थों के सयोग से इन्द्रियविषयों की सिद्धि होती है उनमें राग और उनसे विरोधी पदार्थों में द्वेष होता है। रागद्वेष से कर्मों का आस्रव होता है और कर्मों के उदय से शरीर, शरीर से इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति, उससे रागद्वेष तथा रागद्वेष से कर्मास्रव इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता है। इसका विनाश नहीं हो पाता है अत: सारे अनर्थों की खान यह शरीर का ममत्व है। सबसे पहले इसका त्याग करना चाहिए ॥233 ॥

मोक्ष का बीज

निर्ममत्व परमतत्त्वं, निर्ममत्वं परं सुखम्।
निर्ममत्व परमबीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥234॥

ज्ञानियों ने कहा है कि निर्ममत्व ही परम तत्त्व है। निर्ममत्व ही परम सुख है और निर्ममत्व ही मोक्ष का परम बीज है।

पर-पदार्थों में ममत्व करने वाला प्राणी कर्मों के बन्धन से बँधता है और ममत्व रहित जीव छूटता है। अत: निरन्तर निर्ममत्व होने की भावना भानी चाहिए। जिन्होंने पर-पदार्थों के ममत्व को छोड़ दिया है, जिन्हें इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की सम्पदा और इन्द्रियों के भोग विषम विष के समान प्रतीत होते हैं, जो एकपरम चिन्मय ज्योति स्वरूप आत्मा में ही ममता रखते हैं, जो अतीन्द्रिय सुख के इच्छुक हैं, वे निर्मोही जीव ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं ॥234 ॥

परमोत्कृष्ट पद की प्राप्ति

निर्ममत्वे सदा सौख्यं, संसारस्थितिभेदनं।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥235॥

पर पदार्थों की ममता से रहित होकर आत्मा में स्थिरता प्राप्त हो जाने पर सदैव संसार-स्थिति के छेदक परम सौख्य का अनुभव होता रहता है।

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का स्थान स्वयं आत्मा है। जब उपयोग को सर्व पदार्थों से हटाकर अपनी आत्मा में स्थिर किया जाता है, पर-अनुभव से सर्वथा रहित कर दिया जाता है, आत्मा के शुद्ध भाव में तन्मय किया जाता है परपदार्थों की आसक्ति से रहित होकर अपनी आत्मा में रमण करने से ही कर्मों का क्षय करके मोक्षपद प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा की कृति जब साम्यभाव को प्राप्त हो जाती है तब परपदार्थों की रुचि नहीं होती, स्वात्मानुभव में ही उसे आनन्द आता है। अतः निर्मोही बन स्वानुभव रूप परम सुधारस का पानकर सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करना चाहिए ॥235 ॥

17. धन की असारता

अनर्थों का मूल अर्थ (धन)

अर्थो मूलमनर्थानामर्थो निर्वृत्तिनाशनम्।
कषायोत्पादकश्चार्थो, दुःखानां च विधायकः ॥236 ॥

यह धन अनर्थों का मूल है। यह धन मोक्षमार्ग का नाशक है। यह धन ही लोभादि कषायों का उत्पादक है और दुःखो का विधायक है।

लक्ष्मी का त्याग किए बिना ममत्व का त्याग होना सम्भव नहीं है, क्योंकि धन के होने पर ही विषयभोग सामग्री एकत्र की जाती है। धन की प्राप्ति के लिए अन्याय, असत्यभाषण, चोरी, हिंसा आदि दुष्कर्म भी किये जाते हैं। सर्व प्रथम उसके उपार्जन की चिन्ता, प्राप्त होने पर उसके रक्षा करने की चिन्ता और रक्षा करते-करते नष्ट हो जाने पर महा चिन्ता होती है। धनार्जन के लोभी आत्म-हित मे प्रवृति नहीं करते। उनको एक क्षण भी आत्मशान्ति रूप निराकुलता नहीं होती। कुटुम्बियों से विवाद वैमनस्यता आदि अनेक उपद्रव होते हैं। अतः धन ही सर्व अनर्थों की जड़ है इसी से कर्मबन्ध के कारणभूत रागद्वेष मोह आदि उत्पन्न होते हैं ॥236 ॥

दु:ख की बात

प्राप्तोज्झितानि वित्तानि, त्वया सर्वाणि संसृतौ
पुनस्तेषु रतिः कष्टं, भुक्तवान्त इवौदने ॥237॥

हे भव्य! तूने इस संसार में सर्व प्रकार के धन को प्राप्त करके भुक्तोज्झित चावल के वमन के समान बार-बार छोड़ा है। उसी भोग कर छोड़ी हुई सम्पत्ति में पुनः आसक्ति कर रहा है, यह बडे दु:ख की बात है।

हे आत्मन्! यह सांसारिक वैभव, भोग-सम्पदा बार-बार भोग करछोड़ी हुई है। अतः ये सर्व भोग-वस्तुएँ भोग कर वमन की हुई वस्तु के समान होने से भोगने योग्य नहीं हैं। अर्थात् ज्ञानीजन वमन की हुई वस्तु को खाने योग्य नहीं समझते, उसी प्रकार ज्ञानीजन भोग कर छोड़ी हुई वस्तु को ग्रहण करना भी उपयुक्त नहीं समझते।

यह सासारिक वैभव, भोग-सम्पदा आत्मीय गुणों की विनाशक होने से हेय है, उपादेय नहीं ॥237॥

धन परलोक में साथ नहीं जाता

को वा वित्तं समादाय, परलोकं गतः पुमान्।
येन तृष्णाग्निसंतप्तः, कर्म बध्नाति दारुणम्॥238॥

कौन ऐसा मानव है जो धन साथ लेकर परलोक गया हो। जिस धन के कारण यह प्राणी तृष्णा की अग्नि से जलता हुआ तीव्र कर्म बाँधता है।

अज्ञानी मानव धन की तृष्णा में फँस करअपनी सर्व शक्ति तथा सारा मानव-जन्म इसी के उपार्जन में नष्ट कर देता है, आत्म-कल्याण की ओर लक्ष्य नहीं देता। तृष्णा की अग्नि इसकी आहुति से शान्त नहीं होती अपितु अधिक प्रज्ज्वलित होती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जिस धन के लिए तू न्याय-अन्याय का विचार न कर पापकर्म का बन्ध करता है, वह धन परलोक में तेरे साथ जाने वाला नहीं है, परलोक में तो तेरे पुण्य पाप ही साथ में जायेंगे। इस धन के लिए बाँधे हुए कर्मोदय से तुझे परलोक में दारुण दु:ख भोगने पड़ेगे अतः सर्वोत्कृष्ट तो यह है कि तू इस धन का पूर्णतया त्याग कर निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण कर। यदि ऐसा साहस नहीं है तो न्यायपूर्वक

धनोपार्जन के सन्तोष के साथ आत्महित करते हुए जीवन-यापन कर, जिससे परलोक में कष्ट न उठाने पड़ें ॥238 ॥

18. सन्तोष की महिमा

तृष्णान्धा नैव पश्यन्ति, हितं वा यदि वाहितं।
सन्तोषाञ्जनमासाद्य, पश्यन्ति सुधियो जनाः ॥239 ॥

जो मानव तृष्णा से अन्धे हैं, वे हित और अहित को नहीं देखते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य ही सन्तोष रूपी अजन लगाकर अपना सच्चा हित देखते रहते हैं।

जिनकी आँखें विषय-वासना और धन की तृष्णा से अन्धी हो चुकी हैं, वे मानव अपने हित और अहित का विचार नहीं कर सकते। जिनकी आँखें ध नलोलुपता और विषयलोलुपता से अन्धी हैं, वे अन्धे से भी महाअन्धे हैं, जैसे-धनान्ध कौरव और विषयान्ध रावण। अन्धे तो रूप ही नहीं देख सकते, परन्तु विषयान्ध को तो कुछ भी नहीं दीखता। वे देव-शास्त्र-गुरुओं की अवज्ञा करते हैं और अपने हिताहित के विचार से शून्य-हृदय वाले हो जाते हैं। परन्तु जो सन्तोष रूपी अंजन से तृष्णा से अन्धी हुई आँखों को खोल लेते हैं, वे ही अपने हित और अहित को जान सकते हैं। अतः हित-अहित के विचार से शून्य होकर तृष्णा के जाल में फँस कर दुर्गति में जाना अच्छा नहीं है, अपितु सन्तोषामृत का पानकर विषयलोलुपता और धनलोलुपता को छोड़कर आत्महित में लगना श्रेष्ठ है। जो मानव अपने जीवन के बहुमूल्य समय को शास्त्राभ्यास, तत्त्वविचार और आत्मध्यान में व्यतीत करते हैं, धन के मोह में उन्मत्त नहीं होते, वे धन प्राप्त कर भी तृष्णा में नहीं फँसते, सन्तोषपूर्वक रहते हैं, वे ही धन्य हैं ॥239 ॥

सन्तोष ही सार रत्न है

सन्तोषसारसद्रत्नं, समादाय विचक्षणाः।
भवन्ति सुखिनो नित्यं, मोक्षसन्मार्गवर्तिनः ॥240 ॥

बुद्धिमान् पुरुष सन्तोष रूपी सारभूत रत्न को धारण करके नित्य मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलते हुए सुखी रहते हैं।

जिन बुद्धिमानों के पास सन्तोष रूपी रत्न है, वे ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धनाढ्य हैं और देवों के द्वारा पूज्यनीय हैं, जैसे—जम्बूकुमार। कितने ही सांसारिक सुखों का प्रलोभन देने पर भी जो अपने न्याय वा धर्म-मार्ग से च्युत नहीं होते, जिनके हृदय रूपी मेरु को धन का लोभ वा विषयभोगो का आकर्षण हिला नहीं सकता, वे ही जगत् में पूजनीय होते हैं, जैसे-सीता। वे ही महामना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग से चल कर उत्तम धाम में पहुँच जाते हैं और परम सुखी बन जाते हैं। अतः पुण्य कर्म के उदय से जो मिला है, उसी मे सन्तोष रखना चाहिए और अपना सम्पूर्ण ध्यान सांसारिक भोगो में नहीं, आत्मोन्नति में लगाना चाहिए ॥240॥

धन-संचय में सुख नहीं

तृष्णानलप्रदीप्तानां, सुसौख्यं तु कुतो नृणाम्।
दुःखमेव सदा तेषां, ये रताः धनसञ्चये॥241॥

तृष्णा रूपी अग्नि से सन्तप्त मनुष्यों को सुसुख (उत्तम सुख) की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जो धन का सञ्चय करने में सदालीन रहते हैं, उनको सदा दुःख ही होता है।

उत्तम सुख आत्मा का हित है और आत्महित निराकुलता में है अर्थात् निराकुलता ही श्रेष्ठ सच्चा सुख है। वह निराकुलतामय सुख धन और विषयवासना की तृष्णा रूपी अग्नि से जलते हुए प्राणियों को नहीं मिल सकता क्योंकि तृष्णा और निराकुलता दोनो एक साथ नहीं रहतीं। क्षणिक सासारिक सुख का आनन्द भी तृष्णा से झुलसे हुए प्राणियों को नहीं मिलता, क्योंकि सर्व प्रथम इच्छानुसार पदार्थ मिलते नहीं, यदि मिलते हैं तो चिरकाल तक रहते नहीं अतः उनसे आकुलता मिट नहीं सकती। सुख के इच्छुक मानव को सन्तोष रूपी जल से तृष्णाग्नि को बुझाकर शान्ति एवं वास्तविक सुख को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए ॥241॥

सन्तोष में रति करने का उपदेश

सन्तुष्टाः सुखिनो नित्यमसन्तुष्टाः सुदुःखिताः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा, सन्तोषे क्रियतां रतिः ॥242॥

सन्तोषी जीव सदा सुखी रहते हैं और असन्तोषी निरन्तर दुःखी रहते हैं अतः सन्तोष और असन्तोष इन दोनों के अन्तर को जानकर सन्तोष में प्रीति करनी चाहिए।

कर्मोदय से प्राप्त इन्द्रियों के विषयों को जो सन्तोष से भोगते हैं, वे मन्दकषायी लोभी न होने से यहाँ भी सुखी रहते हैं और शुभ कर्मों का बन्ध कर परलोक में भी सुखी रहते हैं। असन्तोषी प्राणी निरन्तर तृष्णा की अग्नि में जलता रहता है। इस लोक में प्राप्त विषयों में सन्तुष्ट नहीं होता है निरन्तर दुःखी रहता है और संक्लेश परिणामों से अशुभ कर्मों का बन्ध कर परलोक में भी दुःखी होता है। अतः सन्तोष और असन्तोष के फल को जानकर सुखकारी सन्तोष में प्रीति करनी चाहिए, दुःखदायी असन्तोष में नहीं ॥242॥

सन्तोष धारण करो

द्रव्याशां दूरतस्त्यक्त्वा, सन्तोषं कुरु सन्मते।
मा पुनर्दीर्घसंसारे, पर्यटिष्यसि निश्चितम् ॥243॥

हे सद्बुद्धि धारक आत्मन्! द्रव्य की आशा को दूर से ही छोडकर तू सन्तोष धारण कर। नहीं तो इस दीर्घ संसार में तू निश्चय से भ्रमण करेगा।

जो प्राणी धनादि बाह्य पदार्थों की ममता में फँस जाता है, वह आत्मध्यान वा मोक्षमार्ग में प्रीति नहीं कर सकता है, जैसे—एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार उपयोग में दो बातें एक साथ नहीं रह सकतीं—तृष्णा भी और मोक्षमार्ग में प्रीति भी। जहाँ सांसारिक पदार्थों की ममता है, वहाँ मोक्ष-मार्ग में रति नहीं हो सकती। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! बाह्य पदार्थों की तृष्णा का त्याग करके मोक्षमार्ग में प्रीति कर, सन्तोष धारण कर। यदि तृष्णा का त्याग कर सन्तोष धारण नहीं करेगा तो तू अनन्त काल तक दुःखमय संसार में भटकता रहेगा ॥243॥

सन्तोष ही श्रेष्ठ है

ईश्वरो नाम सन्तोषी, योऽप्रार्थयते परम्।
प्रार्थना महतामत्र, परं दारिद्र्यकारणम्॥244॥

जो सन्तोषी प्राणी दूसरों से याचना नहीं करता है, वही जगत् में श्रेष्ठ पुरुष है। बड़े लोगों से याचना करना इस लोक में घोर दारिद्र्य का कारण है।

पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है उसी में सन्तोष रखकर जो कभी किसी से याचना नहीं करते हैं वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे ही धनाढ्य एव परम सुखी हैं। जो प्राप्त हुए विषयभोगों वा धन में सन्तोष न करके निरन्तर धनाढ्यों से याचना करते रहते हैं, वे नीच, निर्धन एवं दु:खी हैं, क्योंकि याचना के बराबर कोई दु:ख नहीं है और सन्तोष के बराबर कोई सुख नहीं है। याचना करने वाला लघु होता है और याचना नहीं करने वाला लघु होने पर भी बड़ा आदमी है॥244॥

सन्तोष तृष्णा को शान्त करता है

हृदयं दह्यतेऽत्यर्थं, तृष्णाग्निपरितापितं।
न शक्यं शमनं कर्तुं, विना सन्तोषवारिणा॥245॥

तृष्णा रूपी अग्नि से हृदय अत्यन्त जलता रहता है। उस जलन का शमन करना सन्तोष रूपी पानी के बिना शक्य नहीं है।

सांसारिक वैभव के प्राप्त हो जाने पर भी असन्तोषी का हृदय तृष्णा रूपी अग्नि से झुलसता ही रहता है। जैसे-जैसे सांसारिक पदार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे तृष्णाग्नि की लपटें अधिक निकलती हैं। ठीक ही तो है अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि विशेष भभकती है। जैसे अग्नि का शमन करने के लिए पानी की आवश्यकता होती है, पानी के बिना अग्नि शान्त नहीं हो सकती है उसी प्रकार तृष्णारूपी अग्नि को शान्त करने के लिए सन्तोष रूपी जल की आवश्यकता है, सांसारिक पदार्थों की नहीं। सन्तोष रूपी पानी के बिना तृष्णा रूपी अग्नि का शमन करना शक्य नहीं है अतएवं सन्तोषामृत का पान कर मोक्ष का राही बनना चाहिए॥245॥

मानसिक दु:खों का नाशक सन्तोष है

यै: सन्तोषामृतं पीतं, निर्ममत्वेन वासितं।
त्यक्तं तैर्मानसं दु:खं, दुर्जनेनैव सौहृदं॥246॥

जिन्होंने निर्ममत्व भाव से सुवासित (सुगन्धित) सन्तोष रूपी अमृत का पान किया है उन्होने सारे मानसिक दु:खों का परित्याग कर दिया है अर्थात् सारे दु:खो से छुटकारा पा लिया है। जैसे-दुर्जन के साथ मित्रता छूट जाती है।

सारे मानसिक दु:खों का कारण है—बाह्य पदार्थों की अभिलाषा। जिन्होंने बाह्य धनादि पदार्थों की अभिलाषा छोड़ कर सन्तोष धारण किया। उन्होंने सारे मानसिक दु:खों का अन्त कर दिया। वे सन्तोषी, ज्ञानीजन धन के अभाव मे आकुलित नहीं होते और धन प्राप्त होने पर तृष्णा के वशीभूत होकर लोभ के पाश में भी नहीं फँसते, सदा साम्यभाव रूपी धन से सुखी रहते हैं। जैसे-दुर्जन के साथ मित्रता छूट जातो है, उसी प्रकार सन्तोषामृत का पान करने से उनके सारे दु:ख छूट जाते हैं॥246॥

निर्वाण-सुख का कारण है सन्तोष

यै: सन्तोषामृतं पीतं, तृष्णातृट्प्रणाशनं।
तैश्च निर्वाणसौख्यस्य, कारणम् समुपार्जितम्॥247॥

जिन्होंने तृष्णा रूपी प्यास को बुझाने वाले सन्तोषामृत का पान कर लिया, उन्होंने निर्वाण-सुख के कारण को प्राप्त कर लिया।

तृष्णा की प्यास सारे संसार के पदार्थों रूपी खारे पानी के पीने से बुझ नहीं सकती अपितु अधिक दाह उत्पन्न करती है, लोभ को बढ़ाने वाली है विषयो की तृष्णा; लोभ से उत्पन्न होते हैं क्रोध, मान, माया और इन्हीं के कारण संसार में भटकना पड़ता है। जिन्होंने सन्तोष रूपी अमृत का पान कर विषयाभिलाषा की प्यास शान्त कर ली उन्होंने निर्वाण-सुख के कारण को प्राप्त कर लिया। वे ही तृष्णा के विजयी परम सन्तोषी साधु लाभ में, अलाभ में, सुख में, दु:ख में, जीवन में, मरण में, तृण में, कंचन में, स्तुति में और निन्दा में समभाव रखते हैं और रत्नत्रय को धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं॥247॥

साधु क्या धारण करते हैं

सन्तोषं लोभनाशाय, धृतिं च सुखशान्तये:।
ज्ञानं च तपसां वृद्धौ, धारयन्ति दिगम्बरा: ॥248 ॥

परिग्रहत्यागी दिगम्बर मुनि लोभ का नाश करने के लिए सन्तोष को, सुख-शान्ति के लिए धैर्य को और तप की वृद्धि के लिए ज्ञान को धारण करते हैं।

आत्मा का शत्रु लोभ है। दिगम्बर साधु आत्मा का अहित करने वाले लोभ का विनाश करने के लिए लाभ-अलाभ में, सुख-दु:ख मे सन्तोष धारण करते हैं। आपत्ति परीषह आने पर सुख-शान्ति का नाश हो जाता है और आपत्ति पर विजय धैर्य से प्राप्त होती है अत: आत्मीय सुख और शान्ति के लिए दिगम्बर साधु धैर्य धारण करते हैं। तप की वृद्धि ज्ञान से होती है क्योंकि ज्ञान से, शास्त्रों केपठन और मनन से ही इच्छाओं का निरोध होता है—अत: इच्छाओ के निरोध रूप तप की वृद्धि के लिए वे निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करते हैं ॥248 ॥

19. ध्यान के साधन

ध्यानस्थ प्राणी के विचार

ज्ञानदर्शनसम्पन्न:, आत्मा चैको ध्रुवो मम।
शेषा भावाश्च ये बाह्या:, सर्वे संयोगलक्षणा: ॥249 ॥

धर्मध्यान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी विचार करते हैं कि ध्रुव अविनाशी, ज्ञानदर्शनसम्पन्न एक मेरी आत्मा है। शुद्धात्म भावों को छोड़कर जितने भी रागादि भाव हैं, वे सर्व पुद्‌गल के संयोग से होते हैं। अत: वे मेरी आत्मा से बाह्य हैं, इतर हैं।

निश्चयनय से काम-क्रोधादि विकार शुद्ध आत्मा के नहीं हैं तथापि आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं, अत: व्यवहार नय से आत्मा के हैं। आत्मविशुद्धि एवं शुद्धात्मा का अनुभव करने के लिए ज्ञानीजन विचार करते हैं कि यह मेरा आत्मद्रव्य अविनाशी, एकरूप, ज्ञाता, द्रष्टा परम

वीतराग और आनन्दमय सिद्ध भगवान के समान है। चार गतियों सम्बन्धी सर्व पर्यायें तथा सर्व रागद्वेषादि विभाव भाव आठ कर्मों के संयोग से जीव में होते हैं, शुद्ध जीव में नहीं पाये जाते हैं, अतएव ये सब मेरे नहीं हैं, न ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म ही मेरे हैं, न रागादि भाव कर्म मेरे हैं, न शरीरादि नोकर्म मेरे हैं। मैं इनसे भिन्न स्वतन्त्र चैतन्य आत्मद्रव्य हूँ। रागद्वेषादि विभाव भाव पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः आत्मा के नहीं, अपितु औपाधिक भाव हैं ॥249॥

रागादि भाव को छोड़ने का आदेश

संयोगमूलजीवेन, प्राप्ता दु:खपरम्परा।
तस्मात् संयोगसम्बन्धं, त्रिविधेन परित्यजेत् ॥250॥

ध्यानस्थ योगी विचार करता है कि अनादि काल से पुद्गल के संयोग से इस जीव ने अनेक दु:ख प्राप्त किये हैं अत: मन, वचन, काय के सयोग सम्बन्धी भावों को छोड़ देना चाहिए।

योगी सर्व गुणस्थांन-मार्गणास्थान आदि सासारिक अवस्थाओं को कर्मोदयजनित जानकर उनसे बिलकुल ममता छोड देता है। एक अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को ग्रहण करता है। पर के सयोग से ही इस जीव ने कष्ट उठाए हैं, स्वातत्र्यप्रेमी सर्व पर से नाता तोड़ देते हैं ॥250॥

चिन्ता करना निरर्थक है

ये हि जीवादयो भावा:, सर्वज्ञैर्भाषिता: पुरा।
अन्यथा च क्रियास्तेषां, चिन्ताऽत्र निरर्थका ॥251॥

प्राचीन काल में सर्वज्ञ भगवान ने जो जीवादि द्रव्य कहे हैं, उनकी क्रिया अन्यथा रूप हो जाय, उनका स्वरूप बदल जाये, ऐसा चिन्तन करना निरर्थक है।

सर्वज्ञ वीतराग देव ने जीवादि छह द्रव्यों का जैसा स्वरूप कहा है—वह कभी अन्यथा रूप नहीं हो सकता अर्थात् जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता और न पुद्गल कभी जीव हो सकता है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य एकक्षेत्रावगाही हैं, परस्पर साथ में रहते हैं, परन्तु

अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। इनका मूल स्वभाव कभी अन्यथा नहीं हो सकता, ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है। उसको अन्यथा करने की चिन्ता करना व्यर्थ है। अत: ज्ञानी जनों का कर्त्तव्य है कि वे आत्मा के रागादि भावों को विभाव समझकर शुद्ध आत्मतत्त्व का चिन्तन करें—क्योंकि ये रागादि भाव कभी भी आत्मा के स्वभाव रूप भाव नहीं हो सकते। ये संयोगी भाव हैं और दु:ख की परम्परा के कारण हैं ॥251॥

कर्मबन्ध का कारण

यथा च कुरुते जन्तुर्ममत्वं विपरीतधीः।
तथा हि बन्धमायाति, कर्मणस्तु समन्ततः ॥252॥

अज्ञानी जन जैसे-जैसे परपदार्थों से ममत्व करता है, वैसे-वैसे सर्व तरफ से कर्म के बन्ध को प्राप्त होता है।

कर्मबन्ध का कारण है परपदार्थों का ममत्व—उनसे राग-द्वेष। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बाह्य धन-धान्यादि पदार्थों में ममता करता हुआ कर्मों से बंध जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सर्व पदार्थों से ममता का परित्याग कर एक अपने आत्मद्रव्य से ही ममत्व (वा अनुराग) करते हैं तथा आत्मध्यान में मग्न हो कर्मों का सवर और निर्जरा करते हुए मोक्ष के राही बनकर उत्तम अविनाशी आत्मीय सुख को प्राप्त कर लेते हैं ॥252॥

स्वहित से पराङ्मुख

अज्ञानावृतचित्तानां, रागद्वेषरतात्मनाम्।
आरम्भेषु प्रवृत्तानां, हितं तत्र न भीतवत् ॥253॥

अज्ञान से आच्छादित चित्तवाले, रागद्वेषादि भावों में लीन और संसार के आरम्भ में प्रवृत्त मानवो का इस लोक में हित नहीं हो सकता। जैसे कायर का युद्ध में कल्याण नहीं हो सकता।

जैसे कायर मानव शत्रु के सामने युद्ध में ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार जिनका चित्त अज्ञान अन्धकार से आच्छादित है, जो निरन्तर रागद्वेष मे रत रहते हैं और सांसारिक आरम्भ-परिग्रह में फँसे रहते हैं, वे आत्महित के

साधनों में प्रवृत्ति नहीं कर सकते। शास्त्र-अभ्यास का अभाव, सांसारिक पदार्थों में आसक्ति, रागद्वेष में तल्लीनता और जिनेन्द्रकथित मार्ग में विपरीत प्रवृत्ति ही संसार के कारण हैं। इनका त्याग कर आत्महित में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥253॥

कर्मबन्ध के कारण

परिग्रहपरिष्वङ्गाद्रागद्वेषश्च जायते।
रागद्वेषौ महाबन्धः, कर्मणां भवकारणम् ॥254॥

परिग्रह की आसक्ति से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष से ही कर्मों का महाबन्ध होता है और यह महाबन्ध ही संसार का कारण है।

राग-द्वेष को त्याग करके वीतरागभाव में रमण करने से आत्मा का सच्चा हित होता है। अतएव जिसके मोक्ष की भावना है उसको रागद्वेषादि उत्पन्न होने के कारणभूत धनधान्यादि परिग्रहो का त्याग कर देना चाहिए, तभी बन्ध न होकर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होगी। परिग्रह ध्यान की सिद्धि मे बाधक है। अत परिग्रह का त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥254॥

महाफल देने वाला योग

सर्वसंगान् पशून् कृत्वा, ध्यानाग्निनाहुतिं क्षिपेत्।
कर्माणि समिधश्चैव, योगोऽयं सुमहाफलम् ॥255॥

ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी समिधा की और अन्तरग-बहिरग परिग्रह रूपी पशुओं की आहुति देना-यही सुफल देने वाला महायज्ञ है।

अज्ञानीजन सुख और शान्ति के लिए पापयज्ञ करते हैं, जिसमें पशुओ का वध किया जाता है। उससे सुख-शान्ति नहीं अपितु नरकादि दुःखों की प्राप्ति होती है। आचार्यदेव ने सुख-शान्ति देने वाले सुयज्ञ का वर्णन किया है, जिसमें कर्म तो यज्ञ मे जलने वाली समिधा है और अन्तरंग-बहिरग परिग्रह यज्ञ में आहुति देने योग्य पशु हैं तथा तपरूपी अग्नि जिसमें प्रज्ज्वलित है वही महाफल देने वाला सुख-शान्ति कारक महायज्ञ है। इसी यज्ञ से आत्मा शुद्ध होती है क्योंकि परिग्रह का त्याग कर तपश्चरण किए बिना आत्मकल्याण वा मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ॥255॥

इस यज्ञ की महिमा

राजसूयसहस्राणि, अश्वमेधशतानि च।
अनन्तभागतुल्यानि, न स्युस्तेन कदाचन॥256॥

हजारों राजसूय यज्ञ और सैकडों अश्वमेध यज्ञ भी उपरि कथित यज्ञ के अनन्तवें भाग बराबर भी कभी नहीं हो सकते।

राजा लोग राज्याभिषेक के समय मीमांसक मत के अनुसार राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ करते हैं। जिस यज्ञ में घोड़ों की बलि (आहुति) दी जाती है और कहा जाता है कि इस यज्ञ से राजा चक्रवर्ती बनता है। परन्तु यह नहीं समझते हैं कि पापयज्ञ से कभी सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। वास्तविक यज्ञ तो ऊपर के श्लोक मे कहा हुआ है। आचार्य देव कहते हैं कि जिसमें इन्द्रिय रूपी घोड़े वश मे किये जाते हैं तथा तपो अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन जलाया जाता है। हजारो अश्मेध यज्ञ और सैकड़ों राजसूय यज्ञ से ध र्मयज्ञ का फल अनन्त गुणा है। इस आत्मयज्ञ में कर्मों का संवर और निर्जरा होकर मोक्षरूप महाफल की प्राप्ति होती है, जब कि राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ से महापाप उपार्जन कर जीव नरकादि दु:खों को भोगता है॥256॥

20. ध्यानी महिलाएँ

सच्ची प्रज्ञा

सा प्रज्ञा या शमे याति, विनियोगपरा हिता।
शेषा च निर्दया प्रज्ञा, कर्मोपार्जनकारिणी॥257॥

वही सच्ची प्रज्ञा वा हितकारिणी बुद्धि है जो वैराग्य भाव में तत्पर हो, आत्मा को समता भाव की ओर ले जाती हो। इसके सिवाय जो बुद्धि कर्मों का बन्ध कराने वाली है, वह निर्दय है और आत्मदया से शून्य है।

आत्मा और अनात्मा के विवेक को प्रज्ञा कहते हैं। जिस प्रज्ञा वा सुबुद्धि को पाकर, आत्मा-अनात्मा के भेद को जानकर, जो अनात्मा (पौद्गलिक शरीर-भोगों) से विरक्त होकर आत्म साधना में लीन रहते हैं, जिसने बाह्य

पदार्थों से ममता को छोड़ दिया है, वही मोक्ष-साधिका सच्ची प्रज्ञा है। परन्तु जो आत्मा-अनात्मा के भेद को जानकर के भी आत्मा और अनात्मा को पृथक् करने का प्रयत्न नहीं करते हैं, सांसारिक बाह्य भोग-पदार्थों में निरन्तर लीन रहते हैं, विषय और कषायों से जिनका मन कलुषित रहता है, उनकी प्रज्ञा पापमय होने से कर्मबन्ध की कारण होती है, वह सच्ची प्रज्ञा नहीं, वह अदया आत्मघातिनी है, आत्मा को कुमार्ग में ले जाने वाली और संसार में भटकाने वाली है।

सच्ची प्रज्ञा वाले वे ही हैं, जो आत्मा-अनात्मा के भेद को जानकर पचेन्द्रियों के विषय-भोगों से मुख मोड़कर आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं ॥257 ॥

सेवन करने योग्य प्रज्ञा

प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या, पुरुषेण सुखावहा।
हेयोपादेयतत्त्वज्ञा, याऽरता, सर्वकर्मणि ॥258 ॥

जो प्रज्ञा हेय-उपादेय तत्त्व को जानने वाली है, सर्व मन, वचन और काय की क्रियाओं मे रत नहीं है और सुखावहा (सुखदेने वाली) है, वही प्रज्ञा (बुद्धि) रूपी अगना (स्त्री) सदा पुरुष के द्वारा सेवन करने योग्य है।

भेदविज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। इस भेदविज्ञान से ही आत्मा पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से और अन्य आत्माओं से तथा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, राग-द्वेषादि भाव कर्म और शरीर आदि नोकर्म से भिन्न अपनी चिन्मय रूप आत्मा का अनुभव करती है। जब यह दृढ़ विश्वास और ज्ञान होता है कि चावल और चावल के छिलके के समान शरीर और आत्मा परस्पर अत्यन्त भिन्न है तब समीचीन प्रज्ञा से अपनी शुद्धात्मा का श्रद्धान वा रुचि उत्पन्न हो जाती है, और जब शुद्धात्मा की रुचि होती है तब उपयोग मन, वचन, काय की क्रिया में रत न होकर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में लीन हो जाता है। शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का भान या ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और शुद्ध स्वभाव में रमण करना सम्यक्चारित्र है। अतः प्रज्ञा का फल है—रत्नत्रय की प्राप्ति से मुक्ति की प्राप्ति। यही सच्ची प्रज्ञा रूपी स्त्री पुरुष के द्वारा सेवनीय, वन्दनीय एव अभिगमनीय है ॥258 ॥

सेवनीय दया अंगना

दयाङ्गना सदा सेव्या, सर्वकामफलप्रदा।
सेवितासौ करोत्याशु, मानसं करुणात्मनम्॥259॥

सर्व कामनाओं के फल को देने वाली दयारूपी वनिता सदा सेवन करने योग्य है। सेवन की हुई यह दया स्त्री शीघ्र ही मन को दया से परिपूर्ण कर देती है।

ध्यानी पुरुषों को ध्यान की सिद्धि के लिए दया नामक स्त्री का सेवन करना चाहिए, जिससे सर्व जीवो को कष्ट नहीं होता प्रत्युत शान्ति की प्राप्ति होती है। दयालु प्राणी सर्व जीवो के सुख की भावना करता है, उसका चित्त दया से आर्द्र होता है। कारुण्य भावों से पुण्यबन्ध होता है, उसी को ध्यान की सिद्धि होती है॥259॥

मैत्री अंगना

मैत्र्यंगना सदोपास्या, हृदयानन्दकारिणी।
या विधत्ते कृतोपास्तिश्चित्तं विद्वेषवर्जितं॥260॥

हृदय को आनन्दित करने वाली मैत्री रूपी वनिता की सदा उपासना करनी चाहिए, जो उपासना करने पर चित्त को विद्वेष रहित कर देती है।

ध्यान की सिद्धि के लिए जैसे प्रज्ञा और दया उपकारिणी हैं, उसी प्रकार सर्व जीवों पर मैत्री भाव भी परम सहकारी है।

सर्व जीवों पर मैत्रीभाव रखने से द्वेषभाव मिट जाता है, मन में आनन्द रहता है, कोमल भाव हो जाते हैं और महान् पुण्यमयी बन्ध होता है॥260॥

शत्रुओं पर विजय करता है

सर्वसत्वे दयां मैत्रीं, यः करोति सुमानसः।
जयत्यसावरीन् सर्वान्, बाह्याभ्यन्तर संस्थितान्॥261॥

जो सुन्दर मन का धारक मानव सर्व प्राणियों में दया और मैत्री भाव रखता है, वह बाह्य और अभ्यन्तरस्थित सर्व शत्रुओं को जीत लेता है।

इस जीव के बाह्य शत्रु धन, स्त्री आदि हरण करने वाले और अन्तरङ्ग शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभादि विभाव-भाव हैं। इन दोनो के जीतने का उपाय दया और मैत्री भाव है। जो दया और मैत्री भाव के धारी होते हैं, वे शत्रुओं को भी वश में कर लेते हैं तथा उनके कषाय मन्द रहती है, वे धर्म-साधन कर कषायों को उत्पन्न करने वाले कर्मों को जला सकते हैं। और मुक्ति-पथ के गामी बन सकते हैं ॥261 ॥

धर्मोपदेश का फल

शमं नयन्ति भूतानि, ये शक्ताः देशनाविधौ।
कालादिलब्धियुक्तस्य, प्रत्यहं तस्य निर्जरा ॥262 ॥

जो धर्मोपदेश देने मे चतुर हैं, वे प्राणियो को शान्तभाव में ले आते हैं। उन महात्माओं के काललब्धि के होने पर जब स्वात्मानुभव की अधिक जागृति होती है, तब उनके सदा ही कर्मों की निर्जरा होती है।

जो स्वय शान्त परिणामी हैं और दूसरों को शान्त भाव मे लाने का उपदेश देते हैं वे मैत्री, दया और प्रज्ञा को रखते हुए जब-जब आत्मध्यान में मग्न होते हैं तब उनके कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। कषायो का शमन ही ध्यान की सिद्धि का कारण है। ध्यान से ही कर्म झड़ते हैं ॥262 ॥

पशु के समान मानव

शमो हि न भवेद्येषा, ते नराः पशुसन्निभाः।
समृद्धा अपि तच्छास्त्रे, कामार्थरतिसंगिनः ॥263 ॥

जिन मनुष्यो के हृदय मे शान्ति-समता नहीं है जो शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी कामवासना और धन की आसक्ति मे लीन रहते हैं, वे मानव पशु के समान हैं।

जब तक कषाय मन्द न हो, परिणामों में शान्ति न हो, तब तक मानवपने की ही शोभा नहीं है, फिर जो शास्त्रो के ज्ञाता होकर भी रात-दिन पैसा कमाने में व विषय-भोगों में अनुरक्त रहे तो उनका क्या कहना। सदाचार, संयम और शान्त भाव के बिना मानव पशु के तुल्य है। अर्थात् वह मानव कहलाने का पात्र भी नहीं है ॥263 ॥

25. वीतराग विज्ञानमय मार्ग दुर्लभ है

ज्ञान-ध्यान के लुटेरे

रागद्वेषौ महाशत्रू, मोक्षमार्गमलिम्लुचौ।
ज्ञानध्यानतपो रत्नं, हरतः सुचिरार्जितम्॥296॥

मोक्षमार्ग के लूटने वाले राग-द्वेष रूपी शत्रु चिरकाल से अर्जित ज्ञान-ध्यान और तप रूपी रत्न को चुरा लेते हैं, लूट लेते हैं।

आत्मा के प्रबल शत्रु हैं राग-द्वेष। ये ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की धनी, मोक्षमार्ग की पथिक आत्मा की ज्ञान-ध्यान एवं तप रूपी निधि को लूट कर उसे दीन-हीन बना देते हैं तथा उसे दरिद्री, अन्यायी, दुराचारी, कषायी बना दुर्गति रूपी भयकर अटवी में पटक देते हैं॥296॥

जिनधर्म की दुर्लभता

चिरं गतस्य संसारे, बहुयोनिसमाकुले।
प्राप्ता सुदुर्लभा बोधिः शासने जिनभाषिते॥297॥

चौरासी लाख योनियो से भरे हुए इस ससार मे अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए जीव को बड़ी कठिनता से जिनभाषित धर्म मे बोधि की प्राप्ति हुई है।

84 लाख योनियों मे भ्रमण करते-करते त्रसत्व, पंचेन्द्रियत्व, मनुष्यपर्याय, दीर्घ, आयु, इन्द्रियो की पूर्णता, उत्तम देश आदि का पाना उत्तरोत्तर दुर्लभ है और इन सबसे दुर्लभतम है—वीतरागदेव-कथित जिनधर्म का प्राप्त होना और इससे भी दुर्लभतम है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भी आलस्य रहित होकर चारित्र का पालन करना अतिकठिन है। हे आत्मम्! तुझे ये सभी दुर्लभ वस्तुयें प्राप्त हुई हैं, सद्ज्ञान मिला है, बोधि की प्राप्ति हुई है अतः अपना कल्याण कर॥297॥

प्रमाद मत कर

अधुना तां समासाद्य, संसारच्छेदकारिणीम्।
प्रमादो नोचितः कर्त्तुं, निमेषमपि धीमता॥298॥

इस समय संसार का उच्छेद करने वाली उस बोधि को प्राप्त कर, बुद्धिमानों को एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं है।

हे आत्मन्! पाँच परावर्तन रूप संसाराटवी में भटकते-भटकते अतिदुर्लभता से जिनधर्म की प्राप्ति हुई है। जिनधर्म प्राप्त करके भी तत्त्वों का ज्ञान होना बहुत कठिन है। तत्त्वज्ञान होकर भी श्रद्धान होना बहुत दुर्लभ है। पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से श्रद्धान और ज्ञान को प्राप्त कर बुद्धिमानों को चारित्र धारण करने में एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। शीघ्र ही चारित्र धारण करना चाहिए। मानव-जीवन क्षणभंगुर है। संसारोच्छेदक चारित्र धारण करना ही मानव-भव की सार्थकता है ॥298॥

चारित्रहीन चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।

प्रमादं ये तु कुर्वन्ति, मूढाः विषयलालसाः।
नरकादिषु तिर्यक्षु, ते भ्रमन्ति चिरं नराः ॥299॥

जो कोई अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-विषयों के लोलुपी होकर चारित्र में प्रमाद करते हैं, वे मानव चिर (दीर्घ) काल तक तिर्यञ्च, नरकादि योनियों में भ्रमण करते हैं।

सहकारी सामग्री के मिल जाने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं करना अज्ञानता है। मानव-पर्याय, उत्तमकुल, जैन धर्म, शास्त्रश्रवण, सद्ज्ञान आदि सामग्री को प्राप्त करके भी अज्ञानी मूढ़ प्राणी विषयवान होकर सम्यक्‌चारित्र में प्रवृत्ति नहीं करता है। वह अनन्तकाल तक जन्म-मरण आदि दु:खों से व्याप्त संसार में भ्रमण करता रहता है। यदि मिथ्यात्व के उदय के कारण निगोद में चला गया तो फिर वहाँ से निकलना बहुत कठिन है। अत: मानव-पर्याय को सफल बनाने के लिए और दुर्गति में नहीं जाने के लिए निश्चय और व्यवहार चारित्र को अवश्यमेव धारण करना चाहिए ॥299॥

26. स्वाधीन सुख ही सच्चा सुख है

तीनों लोक आत्माधीन के वशीभूत होते हैं

आत्मा यस्य वशे नास्ति, कुतस्तस्य परे जनाः।
आत्माधीनस्य शान्तस्य, त्रैलोक्यं वशवर्तिनं ॥300॥

जिसके वश में आत्मा नहीं है, दूसरे उसके आधीन कैसे हो सकते हैं? शान्त और आत्माधीन जीव के तीनों लोक वशीभूत हो जाते हैं।

जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं, जिन्होंने अपनी कषायों को शान्त कर लिया है, जो साम्यभाव के धनी हैं, सहनशील और क्षमावान हैं उनका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि तीन लोक के प्राणी उनके आधीन हो जाते हैं। वे तीनों लोकों के प्राणियों को अपने वश में कर लेते हैं। अतएव सर्व प्रथम स्वयं को वश में करना चाहिए। कषाय-वासना को जड़मूल से उखाड़ देना चाहिए और स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहिए ॥300॥

स्वाधीन सुख ही सच्चा सुख है

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं, तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः।
पराधीनं तु यत्सौख्यं, दुःखमेव न तत्सुखम् ॥301॥

जो सुख आत्माधीन है, आत्मा का स्वभाव है, उसी को बुद्धिमानों ने सुख कहा है। जो सुख पराधीन है, इन्द्रियों के आधीन है, वह सुख नहीं है, वह तो दुःख रूप ही है।

इन्द्रियजन्यसुख अतृप्तिकारक, पराधीन और तृष्णा की दाह को बढ़ाने वाले हैं तथा आकुलताकारक हैं। अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन, स्वाभाविक, अविनाशी तथा कर्मों के क्षय का कारण है। अतः कर्मबन्ध के कारणभूत संसारवर्द्धक इन्द्रियसुखों का त्याग कर आत्मीय, स्वाधीन, संसारोच्छेदक, मुक्तिदायक स्वाधीन सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सुख की प्राप्ति के लिए पर से ममत्व हटाकर एक निजात्मा का ही ध्यान करना चाहिए ॥3010॥

राजाओं का भी पराधीन सुख दुःख रूप ही है

पराधीनं सुखं कष्टं, राज्ञामपि महौजसां।
तस्मादेतत् समालोक्य, आत्मायत्तं सुखं कुरु ॥302 ॥

हे आत्मन्! महातेजस्वी राजाओं का भी पराधीन सुख कष्ट को ही देने वाला है। इसलिए ऐसा भली प्रकार देख कर आत्माधीन सुख को पाने का प्रयत्न करो।

इन्द्रियसुखों से आकुलता बढती है। इनके राग की दाह निरन्तर जलाती रहती है। साधारण मानवो के सुख की तो बात ही क्या, चक्रवर्ती का सुख भी शान्तिकारक नहीं है। पराधीन होने से मानसिक व्यथा का ही कारण है। इष्ट वस्तु का वियोग और इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने पर जो दुःख होता है, वह वचन के अगोचर है। इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि इन्द्रिय सुख को असार जानकर छोड़ दे और आत्मा के स्वाभाविक सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करें ॥302 ॥

मनुष्य मोहित क्यों होते हैं

आत्मायत्तं सुखं लोके, परायत्तं न तत्सुखं।
एतत् सम्यक् विजानन्तो, मुह्यन्ते मानुषाः कथं ॥303 ॥

लोक मे स्वाधीन सुख ही वास्तविक सुख है, पराधीन सुख सुख नहीं अपितु दुःख है। इस प्रकार जानते हुए भी यह मानव इन्द्रिय-सुखो में मोहित क्यों होता है ?

आत्मा और शरीर के भेद से उत्पन्न हुआ आह्लाद आत्मीय सुख है, स्वाधीन है। पर-पदार्थों की अपेक्षा से रहित होने से निराकुलता-उत्पादक है और संवर तथा निर्जरा का कारण होने से अतीन्द्रिय सुख ही वास्तविक सुख है। इन्द्रियजन्य सुख तृष्णा की दाह को बढाने वाला है, नाशवन्त और पराधीन है अतः वह सुख नहीं सुखाभास है वा दुःख रूप है। आचार्यदेव कहते हैं कि 'इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है' ऐसा गुरूपदेश से जानते हुए और अनुभव में लाते हुए भी संसारी प्राणी इसमें मोहित क्यों होते हैं? आत्मीय सुख की उपलब्धि का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? ॥303 ॥

परिग्रह दुःख का कारण है

नो संगाज्जायते सौख्यं, मोक्षसाधनमुत्तमम्।
संगाच्च जायते दुःखं, संसारस्य निबन्धनम्॥304॥

परिग्रह से मोक्ष के साधन उत्तम सुख की प्राप्ति नहीं होती है। परिग्रह से संसार के दुःख ही प्राप्त होते हैं।

परिग्रह की ममता वा प्राप्ति हिसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि सारे पापों की जननी है। कनक और कामिनी ये दो सारे संसार के सारे दुःखों की खान हैं, अतः परिग्रह मोक्षसुख का साधन नहीं अपितु संसार के बन्धन का कारण है। अतिपरिग्रह और अति आरम्भ से नरक आयु का बन्ध होता है अतः परिग्रह दुर्गति का कारण है। यही परस्पर में विरोध करता है। इसी में फँसा हुआ प्राणी अपने स्वभाव को भूल जाता है। मान के पर्वत पर चढ़कर दूसरों का तिरस्कार करता है। अतः परिग्रह सुख का साधन नहीं, दुःख का कारण है॥304॥

दुःख में शोक करना वृथा है

पूर्वकर्मविपाकेन, बाधायां यच्च शोचनम्।
तदिदं स्वदंष्ट्रस्य, जरच्वेडाहि(जरद्‌वेन्याहि) ताडनम्॥305॥

पूर्वोपार्जित कर्म के विपाक से उत्पन्न पीड़ा वा दुःख में शोक करना ऐसा ही है, जैसे कोई वृद्ध बैल अपने से ही अपने को काट ले फिर पूँछ से अपने को ही मारे।

दुःख वा आपत्ति आने पर शोक-सन्ताप करके असाता कर्म का बन्ध करना मूर्ख प्राणी का कार्य है, ज्ञानी का नहीं। यह कार्य तो ऐसा है जैसे कोई वृद्ध असमर्थ बैल दुःखों से आकुलित हो आप ही अपने को काटकर फिर अपनी पूँछ से उसे ताड़ना रहता है। उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी अज्ञानता से बांधे हुए कर्मों के उदय में सन्तप्त हो पुनः अशुभ कर्म का बन्ध करता रहता है, जिससे आगामी काल में भी दुःखी होता है। अतः दुष्कर्मों के उदय में आकुलित होकर शोक-सन्ताप करना मूर्खता है। उन्हें अपने दोषों का फल

समझ समता भाव रखना, धैर्य से उनको सहन करना बुद्धिमत्ता है। उससे कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं, नूतन कर्मों का बन्ध नहीं होता है ॥305 ॥

ज्ञानी दुःख में शोक नहीं करता, अज्ञानी करता है

अन्यो हि बाधते दुःखं, मानसं न विचक्षणे।
पवनैर्नीयते तूलं, मेरोः श्रृङ्गं न जातुचित् ॥306 ॥

मानसिक दुःख ज्ञानी को आकुलित नहीं करता है, अज्ञानी को करता है। जैसे वायु के वेग से रुई उड़ सकती है, मेरु का शिखर कभी भी नहीं उड़ सकता।

आपत्ति काल में अज्ञानी जन ही मानसिक व्यथा से दुःखित होकर घबड़ाते हैं, चिन्ता करते हैं, आकुल-व्याकुल होते हैं, ज्ञानीजन नहीं। सम्यग्ज्ञानी समझता है कि मैंने पूर्वभव में मन-वचन-काय और कषाय के वशीभूत होकर जो कर्म उपार्जित किये हैं, वे ही उदय में आकर मुझे दुःख दे रहे हैं, इसको दूर करने में कौन समर्थ है। इसमे अधीर होने से कर्म मेरा पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। इस समय साम्यभाव रखकर सहन करना ही श्रेयस्कर है। तत्त्व विचारज्ञ, दृढ़ मन वाले ज्ञानी को आपत्तियाँ आकुलित नहीं कर सकतीं। आपत्ति में आकुलित होना अज्ञानी का काम है, ज्ञानी का नहीं। जैसे वायु का वेग रुई के ढेर को उड़ा सकता है, मेरु के अचल शिखर को नहीं, उसी प्रकार आपत्ति अज्ञानी बहिरात्मा के मन को विचलित कर सकती है, तत्त्वज्ञ अन्तरात्मा के हृदय को नहीं। वे ज्ञानीजन दुर्जनो के वचन-बाणो को, उपसर्ग को और आपत्तियों को समभाव से सहन करते हैं, कलुषित भावों से नहीं ॥306 ॥

27. ज्ञान का फल स्वरूपरमण है

ज्ञान का फल चारित्र है, धनोपार्जन नहीं

परं ज्ञानफलं वृत्तं, न विभूतिर्गरीयसी।
तथा हि वर्धते कर्म, सद्वृत्तेन विमुच्यते ॥307 ॥

ज्ञान प्राप्त करने का फल है उत्तमचारित्र का पालन करना। विपुल धन का उपार्जन करना ज्ञान का फल नहीं है। क्योंकि धनार्जन से कर्मबन्ध होता है और सम्यक्चारित्र से बंध का विच्छेद होता है।

जो मानव सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान के बल से धनोपार्जन करना चाहता है, वह मानों दुर्गति में जाने के लिए ज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है, क्योंकि धन-संचय की भावना से सांसारिक भोगों की आसक्ति बढ़ती है और वह कर्मबन्ध का कारण होने से संसार को बढ़ाने वाली है। संयम-वृत्त से नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है और पुराने कर्म फल देकर झड़ जाते हैं अर्थात् पुराने कर्मों की निर्जरा होती है, जिससे आत्मा शाश्वत अक्षय सुख को प्राप्त करती है। अतः ज्ञान प्राप्त कर धन का संचय नहीं अपितु सम्यक्चारित्र धारण कर कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए ॥307 ॥

श्रुतज्ञान का फल संवेग

संवेगः परमं कार्यं, श्रुतस्य गदितं बुधैः।
तस्माद्ये धनमिच्छन्ति, ते त्विच्छन्त्यमृताद्विषम् ॥308 ॥

बुद्धिमानों ने शास्त्रज्ञान का उत्तम फल संवेग कहा है। इसलिए जो शास्त्रज्ञान से (उपदेश आदि देकर) धन प्राप्त करना चाहते हैं वे मानों अमृत से (अमृत का दान देकर) विष प्राप्त करना चाहते हैं।

जिनेन्द्रकथित शास्त्रों के अभ्यास का फल संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्त होना ही है। जो मूर्ख प्राणी शास्त्रदान प्राप्त कर उससे धन कमाना चाहता है, वह आत्मज्ञान-ध्यान से पराङ्मुख है, परिग्रह के कीचड़ में फँसना चाहता है। वह मूर्ख मानों अमरता देने वाले अमृत का पान कर भी विष चाहता है, क्योंकि जिनवाणी का स्वाद अमृत रूप है, अविनाशी मोक्ष का साधन है जिनवाणी के उस ज्ञान से तुच्छ, विनाशीक सुखों के साधनभूत परिग्रह को ग्रहण करना विष ग्रहण के समान है ॥308 ॥

वास्तविक धन

श्रुतं व्रतं शमो येषां, धनं परमदुर्लभम्।
ते नराः धनिनः प्रोक्ताः, शेषाः निर्धनिनःसदा ॥309 ॥

जिनके पास दुर्लभता से प्राप्त करने योग्य श्रुतज्ञान, समीचीन व्रत और साम्यभाव रूपी धन है, वे मानव निर्धन होकर भी धनवान हैं परन्तु जिनके

पास श्रुतज्ञान, व्रत और समताभाव रूपी धन नहीं है, वे नर लौकिक धनी होते हुए भी निर्धन हैं।

जिससे निराकुलता मिलती है, वही वास्तविक सुख है। सन्तोष रूपी वास्तविक सुख को देने वाले हैं—शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान, मुनि वा श्रावक के चारित्र का पालन तथा सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होने वाला समताभाव। जिनको ये तीन बहुमूल्य रत्न मिल गए, वे ही वास्तव मे धनी हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नो से रहित षट्खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती भी निर्धन है। उसको वास्तविक शान्ति नहीं मिलती, उसका जीवन आकुलताओ से भरा रहता है ॥309॥

लौकिक भोग तृप्तिकारक नहीं

को वा तृप्तिं समायातो, भोगैर्दुरितबन्धनैः।
देवो वा देवराजो वा, चक्राङ्को वा नराधिपः ॥310॥

पापों को बाँधने वाले भोगों से कौन तृप्त हो सका है? देव देवेन्द्र, चक्रवर्ती वा साधारण राजा कोई भी तृप्त नहीं हो सकता।

निर्धन, धनी, देव, देवेन्द्र, चक्रवर्ती, राजा आदि सारे ससारी प्राणी भोगों के रोग से पीड़ित हैं। सागरों पर्यन्त इन्द्रिय-सुख भोगने पर भी भोगों की अभिलाषा का रोग शान्त नहीं होता है। जैसे नदियों से समुद्र और ईंधन से अग्नि शान्त नहीं होती है। जैसे ईंधन के डालने से अग्नि-ज्वाला उग्र होती है, उसी तरह भोगों के भोगने से भोगाभिलाषा अधिक बढती है। अतः भोग तृप्तिकारी नहीं अपितु अधिक तृष्णा बढ़ाने वाले हैं। इसलिए इनके त्याग से ही शान्ति मिल सकती है, इनके सेवन से नहीं। इनका त्याग ही श्रेयस्कर है ॥310॥

28. आत्मा ही सच्चा तीर्थ है

सच्चे तीर्थ की परिभाषा

आत्मा वै समुत्तीर्थं, यदाऽसौ प्रशमे स्थितः।
यदाऽसौ प्रशमे नास्ति, ततस्तीर्थं निरर्थकम् ॥311॥

जब आत्मा अपने स्वभाव रूप साम्यभाव में स्थिर हो जाता है , वही महान् तीर्थ है और जब आत्मा अपने स्वभाव रूप शान्त भाव में स्थिर नहीं है तब सर्व तीर्थ निरर्थक हैं।

तीर्थ का अर्थ है पार करना, जैसे नदी को पार करने में समर्थ होने से नदी के घाट को भी तीर्थ कहते हैं। यहाँ तीर्थ से प्रयोजन है-जो आत्मा को संसार-समुद्र से पार करता है। ससार-समुद्र से पार करने में समर्थ हैं-निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र की एकरूपता रूप निर्विकल्प समाधि और उसका साधनभूत व्यवहार चारित्र तथा निराकुलता। अतः सच्चा तीर्थ है अभेद-भेद रत्नत्रय और मन की स्थिरता। उस आत्मस्वरूप निर्विकल्प समाधि का लक्ष्य करके परिणामों की निर्मलता के निमित्त सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थ हैं, उनकी यात्रा सफल है; परन्तु निर्विकल्प समाधि के लक्ष्य बिना सारी तीर्थयात्रा निष्फल है, मोक्ष की साधन नहीं है। अर्थात् जो आत्मभावना के बिना केवल देखा-देखी से तीर्थयात्रा करता है, वह निरर्थक है, प्रशान्त-आत्मा ही सच्चा तीर्थ है॥311

शीलव्रत-स्नान से शुद्धि होती है

शीलव्रतजले स्नातुं, शुद्धिरस्य शरीरिणः।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु, सर्वेष्वपि महीतले॥312॥

शीलव्रत रूपी जल में स्नान करने से ही इस प्राणी की शुद्धि हो सकती है किन्तु महीतल की सर्व नदियो और तीर्थों मे स्नान करने से भी आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती।

आत्मा की शुद्धि है रागद्वेष भावो से छूटना। उसकी शुद्धि नदियों में स्नान करने से कभी नहीं हो सकती, क्योंकि नदीस्नान तो हिंसा का कारण है। आत्मविशुद्धि तो शीलव्रत रूपी जल मे स्नान करने से होती है। अन्तरंग शीलव्रत कषायों को मन्द करके शान्तभावजन्य ब्रह्मरूपी आत्मा में रमण है, बाह्य शीलव्रत है ब्रह्मचर्य वा मैथुन का त्याग। जो इस ब्रह्मचर्य रूप शान्त रस में नित्य मग्न रहते हैं उनकी आत्मा को यही सच्चा जल शुद्ध करता है। इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वे पाप की कारणभूत नदीस्नान की तीर्थभावना का त्याग कर आत्मगंगा में नित्य स्नान कर आत्मा को पवित्र करें॥312॥

तत्व ही सच्चा स्नान है

रागादिवर्जितं स्नानं, ये कुर्वन्ति दयापराः।
तेषां निर्मलता योगे, न च स्नातस्य वारिणा ॥313॥

जो दयावान् पुरुष रागद्वेषरहित स्नान करते हैं—रागद्वेष के परित्याग रूप जल में स्नान करते हैं, उनके ही योगाभ्यास में निर्मलता आती है। मात्र जल के द्वारा स्नान करने वाले के शुद्धि नहीं हो सकती।

आत्मा को कर्म से छुड़ाने का तथा रागद्वेषादि मल का प्रक्षालन कर शुद्धि करने का उपाय है-वीतराग विज्ञानमय आत्मा के भीतर अवगाहन करना। जल-स्नान व्यवहार में शुद्धि का कारण है, अन्तरंग भावशुद्धि का कारण नहीं है। अन्तरंग शुद्धि का कारण रत्नत्रय का पालन है। अतः आत्मविशुद्धि के इच्छुक मानव को नित्य आत्मध्यान रूपी गंगाजल में स्नान कर अपने रागद्वेष का प्रक्षालन करना चाहिए। यही सच्चा स्नान है ॥313॥

ज्ञान जल से स्नान करें।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं, ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति, जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥314॥

पवित्र ज्ञान रूपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिए, जिससे यह आत्मा भवान्तरों मे भी कर्म रूपी मैल से छूटकर निर्मल हो जाता है।

तत्त्वज्ञान रूपी समुद्र में अवगाहन एक ही भव में आत्मा को पवित्र करने वाला नहीं है अपितु भवभवान्तरों में भी यह शुद्धिप्रदाता है। इस भव में तत्त्वज्ञान से आत्मा पवित्र बनती ही है परन्तु उसके संस्कार भवान्तरों में भी साथ जाते हैं, जिससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ॥314॥

अपवित्र शरीर जल से शुद्ध नहीं होता

सर्वाशुचिमये काये, शुक्र-शोणित-सम्भवे।
शुचित्वं येऽभिवाञ्छन्ति, नष्टास्ते जडचेतसः ॥315॥

रज-वीर्य से उत्पन्न सर्व प्रकार से अशुचिमय शरीर में जो पवित्रता की वाञ्छा करते हैं, वे जड़बुद्धि अपना नाश करते हैं।

यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से मिल कर बना है तथा मलमूत्र, रुधिर-कफ, हाड़-मांस का पुतला है। इसके नौ बड़े द्वारों से और रोमछिद्रों से निरन्तर मल बहता रहता है। पवित्र चन्दन, पुष्पों की माला, तेल, उत्तम वस्त्र, इसके संयोग से एक क्षण में अपवित्र हो जाते हैं, ऐसे शरीर को जो मात्र जल-स्नान से पवित्र मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। जैसे खून से भरा हुआ घड़ा पानी में डुबोने से पवित्र नहीं हो सकता है वैसे नदियों के जल को तीर्थ मानकर उसमें डुबकी लगाने से शरीर पवित्र नहीं बन सकता है।

यद्यपि आठ प्रकार की शुद्धियों में जल से बाह्य शुद्धि मानी गई है, यदि उसका सर्वथा निषेध किया जायेगा तो सर्व बाह्य क्रियाओं का लोप हो जायेगा। यहाँ पर जो मूढ़ मानव गंगा आदि के जल को तीर्थ रूप मानकर उसमें स्नान कर आत्मा और शरीर की शुद्धि मानते हैं, उसका निषेध किया है। जो वस्तु के स्वरूप को नहीं जानता उसको तत्त्वज्ञान होना कठिन है॥315॥

शरीर को शुचि मानने वाले मनुष्य नहीं पशु हैं

औदारिके शरीरेऽस्मिन् सप्तधातुमयेऽशुचौ।
शुचित्वं येऽभिमन्यन्ते, पशवस्ते न मानवाः॥316॥

जो इस सप्त धातुमय अशुचि औदारिक शरीर को पवित्र मानते हैं, वे मानव नहीं पशु हैं।

यह औदारिक शरीर सप्त धातुओं से निर्मित्त है, मलमूत्र की खान है, इसको पवित्र मानना मूर्खता है इसकी पवित्रता तत्त्वाभ्यास, शील, संयम पालन और आत्मध्यान से होती है। महात्माओं का शरीर पूज्य होता है, वास्तव में पूज्य तो आत्मा है उसकी संगति से शरीर भी पूजनीय हो जाता है।॥316॥

मन, वचन, काय की शुद्धि के उपाय

सत्येन शुद्ध्यते वाणी, मनो ज्ञानेन शुद्ध्यते।
गुरुशुश्रूषया कायः, शुद्धिरेष सनातनः॥317॥

वाणी की शुद्धि सत्य बोलने से, मन की शुद्धि तत्त्वज्ञान से और काय की शुद्धि गुरुसेवा से होती है। यह अनादिकालीन शुद्धि है।

मन, वचन और काय इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इनकी अशुद्धि संसार का कारण है। इनकी शुद्धि का उपाय जल नहीं है, अपितु वचन की शुद्धि होती है हित-मित प्रिय और सत्य वचन बोलने से। मन की शुद्धि होती है जिनेन्द्रकथित तत्त्व-चिन्तन, मनन-पठन-स्मरण से तथा आत्मध्यान से। काया की शुद्धि होती है गुरुजनों की सेवा, वीतराग प्रभु की पूजा या रोगादि से पीड़ित की वैयावृत्ति करने से। इन क्रियाओं से जिनका मन-वचन-काय शुद्ध है, वे ही मानव महात्मा और पवित्र हैं॥317॥

29. मनुष्य-जन्म की सफलता

विषयसुख की अभिलाषा नरक का कारण है

स्वर्गमोक्षोचितं नृत्वं, मूढैर्विषयलालसैः।
कृतं स्वल्पसुखस्यार्थ, तिर्यङ्नरकभाजनम्॥318॥

स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति के कारण इस मनुष्य जन्म को विषयलोलुपी मूर्ख प्राणियों ने स्वल्प इन्द्रिय-सुखों के लिये नरक और तिर्यञ्च गति का भाजन बना लिया है।

स्वर्ग और मुक्ति के साधनभूत दुष्प्राप्य मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर भी जो इसे विषय-भोगों में नष्ट कर देते हैं, वे महामूर्ख हैं। वे मानों अमृत से पैर धोते हैं और हाथी को सजा कर उस पर ईंधन ढोते हैं।

विषय-वासनाओं मे मानव-जन्म को नष्ट करना रत्न के बदले काँच का टुकड़ा लेना है, क्योंकि विषयवासनाओं की पूर्ति से नरक-तिर्यञ्च गति मे जाकर दु:ख भोगना पड़ता है जबकि इस शरीर से धर्म की साधना करने से स्वर्ग एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है॥318॥

मानव-जन्म की निस्सारता

सामग्रीं प्राप्य सम्पूर्णां, यो विजेतुं निरुद्यमः।
विषयारिमहासैन्यं, तस्य जन्म निरर्थकम्॥319॥

सर्व अनुकूल सामग्री को प्राप्त करके भी जो मानव विषय रूपी शत्रु की महान सेना को जीतने का प्रयत्न नहीं करता है, उसका मानव-जन्म प्राप्त करना निष्फल है।

मनुष्य-जन्म, उत्तम कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, नीरोगता, दीर्घायु, उत्तम बुद्धि, सत्समागम, तत्त्व-विचार की शक्ति आदि सर्व अनुकूल सामग्री प्राप्त करके भी जो मानव आत्मकल्याण के साधन संयम का पालन करके विषय रूपी शत्रु की सेना का विध्वंस करने का प्रयत्न नहीं करता है, विषय-वासनाओं और कषायों से पराङ्मुख होकर आत्मकल्याण की साधना नहीं करता है, उसका मानव-जन्म निरर्थक है। नर-देह प्राप्त करने का फल है आत्मा के शत्रु विषय-कषायों को जीतकर संसार भ्रमण से छूटना ॥319 ॥

कैसे वचन बोलना

निरवद्यं वदेद्वाक्यं, मधुरं हितमर्थवत्।
प्राणिनां चेतसोऽल्हादि, मिथ्यावादबहिष्कृतम् ॥320 ॥

जो निरवद्य, मधुर, हितकारी, सार्थक, प्राणियो के चित्त को प्रसन्न करने वाले और मिथ्यावाद से रहित हो, ऐसे वचन बोलने चाहिए।

वचनो के कारण जगत् में प्रेम व द्वेष हो जाता है। वचन बाण के समान हृदय को छेद् देता है, अग्नि के समान शरीर को सतप्त कर देता है, अमृत के समान मन को आल्हादित कर देता है तथाशीतल मधुर जल के समान शरीर को शान्त कर देता है। वचनो से कलह और वचनों से ही प्रेम होता है। इसलिए ज्ञानीजनों को उचित है कि द्वेषोत्पादक हिसा-पीड़ा-उद्वेगकारी कटु वचन न कहकर मधुर वचन बोले, मानों कानों में अमृत ही झर रहा हो। मधुर वचनामृत के पान से सन्ताप दूर हो जाता है। वचन एक बहुमूल्य वस्तु है इसको हृदय रूपी तराजू से तोल कर फिर बाहर निकालना चाहिए। हृदय-विदारक कटु वचन कभी नहीं बोलने चाहिए ॥320 ॥

वचनों में क्या दरिद्रता

प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं, किं वाक्येऽपि दरिद्रता ॥321 ॥

प्रिय वचन बोलने से सर्व प्राणी सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए प्रिय वचन ही बोलने चाहिए। प्रिय वचन बोलने में दरिद्रता क्यों ?

प्रिय वचन वैर-विरोध के नाशक हैं और कटु वचन बैर बढ़ाने वाले हैं। वचनों में ही अमृत है और वचनों में ही विष। मधुर और प्रिय वचन बोलने से सुनने वाले सन्तुष्ट और मित्र हो जाते हैं औरकटु वचन बोलने से क्रोधी और शत्रु बन जाते हैं। अत: हितवांछक को सदा मधुर एवं प्रिय वचन बोलने चाहिए, कटु एवं अप्रिय वचन बोलकर किसी का मन दुखित नहीं करना चाहिए। मिष्ट वचन कहना मानों अमृत पिलाना है।

यदि तुम धन और तन से किसी की सेवा नहीं कर सकते हो तो वचन तो मधुर बोलो, उसमे दरिद्रता क्यों। इसमें न शारीरिक शक्ति लगती है और न कुछ गाँठ के पैसे खर्च करने पड़ते हैं। न तालु घिसता है और न जिह्वा में काँटे चुभते हैं। व्यर्थ मे कटु वचन बोलकर अपयश का भागी नहीं बनना चाहिए ॥321 ॥

30. संसार-दु:ख के क्षय का उपाय

दु:खक्षय के कारण

व्रतं शील - तपोदानं, संयमोऽर्हत्पूजनम्।
दु:खविच्छित्तये सर्वं, प्रोक्तमेतन्न संशय: ॥322॥

व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हन्तदेव की पूजा को सांसारिक दु:खों के क्षय का कारण कहा है, इसमें सशय नहीं है।

श्रावक और मुनि के भेद से व्रत दो प्रकार के हैं। मद्य, मांस, मधु का त्याग, बड़, पीपल, गूलर, अंजीर और पाकर फल भक्षण करने का त्याग करना ये श्रावक के अष्ट मूलगुण हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा अन्त मे समाधि मरण ये श्रावक के 12 उत्तर गुण हैं। इन व्रतों का पालन करने के लिए सप्त व्यसन का त्याग करना परमावश्यक है। इन 12 व्रतों का पालन करने वाले श्रावक तीन प्रकार के होते हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जिनको जिन-धर्म का पक्ष है, 'प्राण जाने पर भी हिंसा नहीं करूंगा' ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

जिसकी 12 व्रतों में निष्ठा है, जो व्रतों का पालन करता है वह नैष्ठिक है, इसके 11 भेद हैं—दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य-पालन, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग। इन 11 प्रतिमाओं का पालनकरने वाला नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

जो अन्त समय में सारे आरम्भ-परिग्रह का और आहार पानी का त्यागकर समाधि की साधना करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन शील कहलाता है वा पाँच अणुव्रतों को व्रत और चार शिक्षाव्रतों तथा तीन गुणव्रतों को शील कहते हैं।

अनशन (उपवासकरना), अवमौदर्य (भूख से कम खाना), वृत्ति परिसंख्यान (आहार को जाते समय अटपटे नियम लेना), रसपरित्याग (जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता को जीतने के लिए नमक, घृत आदि रसों का त्याग करना), विविक्तशय्यासन (ब्रह्मचर्य व्रत की विशुद्धि और स्वाध्याय की सिद्धि के लिए एकान्त में उठना-बैठना), कायक्लेश (शीत-उष्ण को सहन करना) ये छह बहिरंग तप हैं। प्रायश्चित (अपराधों को दूर करने के लिए दण्ड लेना), विनय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और रत्नत्रय के धारियों का विनय करना), वैयावृत्य (मुनिजनों की सेवा करना), स्वाध्याय (आत्मज्ञान के लिए शास्त्रों का पठन-पाठन-श्रवण-मनन करना), व्युत्सर्ग (बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना) और ध्यान (मन को एकाग्र कर आत्मा का वा तत्त्वों का चिन्तन करना वा निर्विकल्प समाधि में लीन होना) ये छह अन्तरंग तप हैं।

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को आहार औषध शास्त्र वा अभय (वसतिका आदि रहने का स्थान आदि देना) ये चार प्रकार के दान है।

छह प्रकार के जीवों की रक्षा करना और अपने इन्द्रिय तथा मन को वश में करना संयम है। वीतराग प्रभु की आराधना स्मरण, सत्कार, अर्हत्पूजन है। इन व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हत्देव की पूजन से संसार के दु:खों का क्षय होता है, इसमें संशय नहीं है अत: संसार के दु:खों का नाश करने के

लिए प्रयत्न पूर्वक इन कार्यों को करना चाहिए। यही मानव-जन्म का सार है ॥322 ॥

परम पदकी प्राप्ति का उपाय

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत्।
परस्त्री समा मातुः, पश्यत् याति परं पदम् ॥323 ॥

जो मानव दूसरो के धन को तृण के समान, दूसरों के शरीर को अपने शरीर के समान और दूसरो की स्त्री को माता का समान देखता है, वही परम पद को प्राप्त होता है।

धन मानव का बहिर्भ्रमण करने वाला 11 वाँ प्राण है। धन नष्ट होने से मनुष्यों के प्राण भी चले जाते हैं। किसी के धन का हरण करना उसके प्राणो का हरण करना है। अतएव दूसरो के धन को तृणके समान समझना चाहिए। अर्थात् किसी के धन व पदार्थ की चोरी नहीं करनी चाहिए।

यदि हमारे शरीर मे काँटा चुभता है तो पीडा होती है, तब दूसरो के शरीर मे कष्ट देने से भी तो पीड़ा होती है अतः दूसरो के शरीर को अपने शरीर के समान समझ कर किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए दूसरो की स्त्री को माता के समान समझना चाहिए। ऐसे विचार वाले प्राणी ही मोक्षपद को प्राप्त करते हैं ॥323 ॥

कर्मनिर्जरा का उपाय

सम्यक्त्व समतायोगो, नैःसङ्ग क्षमता तथा।
कषायविषयासङ्गं, कर्मणां निर्जरा परा ॥324 ॥

सम्यग्दर्शन, समता, वीतरागता, धर्म और शुक्ल ध्यान, परिग्रह का त्याग, क्षमा और विषय-कषायों का परिहार ये सब निर्जरा के कारण हैं।

अनादिकालीन कर्मों की निर्जरा का कारण है-तत्त्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन। कर्मनिर्ज़रा और सवर का सबसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है; क्योकि सम्यग्दर्शन होते ही कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है।

समता, वीतरागता, कषायों की मन्दता, धर्म-शुक्ल ध्यान, उत्तम क्षमा, अपरिग्रहता और विषयकषायों के त्याग का अभ्यास, विषयों से अरुचि आदि भी कर्मों की निर्जरा के कारण हैं ॥324 ॥

ग्रन्थकार की लघुता

अयं तु कुलभद्रेण, भवविच्छित्तिकारणम्।
दृब्धो बालस्वभावेन, ग्रन्थः सारसमुच्चयः ॥325 ॥

यह सारसमुच्चय ग्रन्थ अज्ञानस्वभावी कुलभद्र आचार्य ने अपने संसार का उच्छेद करने के लिए रचा है।

कुलभद्र आचार्य कहते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना अपनी संसार की स्थिति का नाश करने के लिए की है, ख्याति-लाभ-पूजा की चाह से नहीं। अर्थात् जैसे इस ग्रन्थ के पढ़ने से कर्मों की निर्जरा होती है वैसे ही इसकी रचना में भी कर्मों की निर्जरा निहित है ॥325 ॥

ग्रन्थ-पठन का फल

ये भक्त्या भावयिष्यन्ति, भवकारणनाशनम्।
तेऽचिरेणैव कालेन, प्राशं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् ॥326 ॥

जो भव्य प्राणी संसार के कारणभूत कर्मों का नाश करने के लिए इस ग्रन्थ की भक्ति पूर्वक पठन-मनन रूप भावना करेंगे, वे शीघ्र ही अविनाशी अमृतमय भोजन (मोक्षपद) प्राप्त करेंगे।

इस ग्रन्थ में सुगमता से मुक्तिपद का उपाय बताया है और आत्मानन्द पीने का मार्ग झलकाया है। जो कोई इसको बार-बार पढेंगे, इसका मनन करेंगे, वे अवश्य ही सच्चे सुख को प्राप्त करेंगे ॥326 ॥

इस ग्रन्थ के पठन-पाठन का फल

सार - समुच्चयमेतद्ये, पठन्ति समाहिताः।
ते स्वल्पेनैव कालेन, पदं यास्यन्त्यनामयं ॥337 ॥

जो भव्य मानव एकाग्रचित्त होकर इस सारसमुच्चय ग्रन्थ को पढ़ते हैं, इसका मनन करते हैं, वे स्वल्पकाल में ही सर्व रोग रहित अविनाशी पद को प्राप्त करेंगे।

ग्रन्थ के पठन-पाठन से मानसिक शान्ति मिलती है और वैराग्य भावना जागृत होती है, ध्यान की वृद्धि होती है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥327॥

अन्तिम मंगलाचरण

नमः परमसद्ध्यान - विघ्न - नाशनहेतवे।
महाकल्याणसम्पत्ति - कारिणेऽरिष्टनेमये ॥328॥

परम धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में आने वाले विघ्नों के नाश करने में कारणभूत महाकल्याणकारी शिवसम्पदा के करने वाले श्री अरिष्ट नेमि (22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान) को मेरा नमस्कार हो। जो अशुभ का नाश कर शुभ को देता है वा शुभ कार्यों की सिद्धि में कारणभूत है, उसको आचार्य मंगलाचरण कहते हैं। वह मगलाचरण कार्य के आरम्भ में, मध्य में और अन्त में किया जाता है। "आदि में मंगलाचरण करने से कार्य में विघ्न नहीं आते, मध्य मे मगलाचरण करने से शिष्य शीघ्र ही विद्या के पारगामी होते हैं और अन्त में मगलाचरण करने से विद्या का फल प्राप्त होता है।

आचार्यदेव ने सर्व प्रथम 'देवदेवं' को नमस्कार करके देववाणी को कहने की प्रतिज्ञा की। मध्य में मुनिगणों का स्मरण किया और अन्त में श्री नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके ग्रन्थ की समाप्ति की है। भगवान श्री नेमिनाथ को नमस्कार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि या तो यह ग्रन्थ भगवान श्री नेमिनाथ के मन्दिर में रचा गया है या आचार्यदेव की भगवान श्री नेमिनाथ के प्रति अटूट श्रद्धा है। सर्व भगवान समान होते हुए भी जिस भगवान के प्रति जिसकी अटूट श्रद्धा होती है, वह उसका इष्टदेव होता है। आचार्य श्री ने इष्टदेव को नमन कर अपने ग्रन्थ की समाप्ति की है। ॥328॥